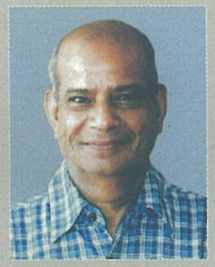

प्रोफेसर कृष्णदत्त पालीवाल

जन्म : 4 मार्च, 1943, सिकंदरपुर, जिला-फर्रूखाबाद, उत्तर प्रदेश • शिक्षा : बी.ए. ऑनर्स (हिंदी), एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्.; संप्रति : दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर एवं पूर्व-विभागाध्यक्ष • जापान के तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज में विजिटिंग प्रोफेसर रहे • पता : ए-102/3, एस.एफ.एस. फ्लैट्स, साकेत, नई दिल्ली-110017 • फोन : 011-26520545, 011-26564021 • Email.: rrpaliwal@hotmail.com

प्रमुख प्रकाशन : (क) पुस्तकें : सुमित्रानंदन पंत, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, भारतीय साहित्य के निर्माता ग्रंथमाला, 1985 • डॉ. अंबेदकर और समाज व्यवस्था, किताबघर, दिल्ली, 1996 • सीय राम मय सब जग जानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996 • सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1997 • हिंदी आलोचना के नए वैचारिक सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 • गिरिजा कुमार माथुर, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2003 • जापान में कुछ दिन, किताबघर, नई दिल्ली, 2003 • डॉ. अम्बेदकर, भारतीय समाज और दलित साहित्य, किताबघर, नई दिल्ली, 2004 • उत्तर आधुनिकता की ओर, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, 2005 • भक्ति काव्य से साक्षात्कार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2007 • अज्ञेय होने का अर्थ, वत्सलनिधि, नई दिल्ली, 2007 • नवजागरण और महादेवी वर्मा का रचना कर्म स्त्री विमर्श के स्वर, किताबघर प्रकाशन, 2008 • अज्ञेय : कवि-कर्म का संकट, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009 • सृजन का अंतर्पाठ, सामयिक प्रकाशन, 2009 • निर्मल वर्मा, साहित्य अकादेमी, 2009 • उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, 2008 • अज्ञेय : विचार का स्वराज, प्रतिभा प्रतिष्ठान, प्रभात प्रकाशन, 2010 • दलित साहित्य के बुनियादी सरोकार, वाणी प्रकाशन, 2010 • हिंदी आलोचना का उत्तर आधुनिक विमर्श, यश प्रकाशन, दिल्ली, 2010 • हिंदी का आलोचक पर्व, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 2011 • आलोचक अज्ञेय की उपस्थिति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011 • अज्ञेय : अलीकी का आत्मदान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011 • अज्ञेय, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 2012 • निर्मल वर्मा : उत्तर औपनिवेशिक विमर्श, भारतीय ज्ञानपीठ, 2012 आदि।

(ख) संपादन : मैथिलीशरण गुप्त रचनावली (12 खंड), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008 • अज्ञेय रचनावली (18 खंड), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

पुरस्कार/सम्मान : उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का राममनोहर लोहिया अतिविशिष्ट सम्मान, 2005 • सुब्रह्मण्यम भारती सम्मान, 2005 – केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा • साहित्यकार सम्मान 2006-2007, हिंदी अकादमी, दिल्ली • हिंदी भाषा एवं साहित्य में बहुमूल्य योगदान के लिए विश्व हिंदी सम्मान 2007 – आठवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन, न्यूयॉर्क, अमेरिका • राइटर इन रेजीडेंसी फैलोशिप, साहित्य अकादेमी, दिल्ली • माखनलाल चतुर्वेदी सम्मान, 2011, मध्यप्रदेश साहित्य अकादेमी, भोपाल तथा प्रमोद वर्मा आलोचना सम्मान, 2010, छत्तीसगढ़।

सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 23310505, 41523565

Visit us at : www.sastasahityamandal.org

E-mail : sastasahityamandal@gmail.com

ISBN 978-81-7309-777-5

भारतीय चिंतन परंपराएँ

नए आयाम, नई दिशाएँ

संपादन

कृष्णदत्त पालीवाल

अज्ञेय प्रवर्तित हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला

भारतीय चिंतन परंपराएँ : नए आयाम, नई दिशाएँ

भारतीय चिंतन परंपराएँ

नए आयाम, नई दिशाएँ

प्रथम व्याख्यान

अध्यक्षता : चिंतक निर्मल वर्मा

व्याख्याता : दार्शनिक डॉ. दयाकृष्ण

द्वितीय व्याख्यान

अध्यक्षता : डॉ. विद्यानिवास मिश्र

व्याख्याता : दार्शनिक डॉ. दयाकृष्ण

संकलन-संपादन

कृष्णदत्त पालीवाल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

भारतीय कॉपीराइट एक्ट के तहत इस पुस्तक में प्रकाशित सामग्री के सर्वाधिकार *वत्सल निधि* के पास सुरक्षित हैं। कोई भी व्यक्ति/संस्था/समूह आदि इस पुस्तक की आंशिक या पूरी सामग्री किसी भी रूप में बिना अनुमति के मुद्रित/प्रकाशित नहीं कर सकता। इस चेतावनी का उल्लंघन करने वाले कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के उत्तरदायी होंगे। सभी विवादों का न्यायक्षेत्र दिल्ली रहेगा।

ISBN 978-81-7309-777-5 (PB)

© वत्सल निधि

•

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल

एन-77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

Publisher

Sasta Sahitya Mandal

N-77, First Floor, Connaught Circus, New Delhi-110 001

फोन / Phone : 23310505, 41523565

Visit us at : www.sastasahityamandal.org

E-mail : sastasahityamandal@gmail.com

manager@sastasahityamandal.org,

शाखा : 124-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद-211003

फोन : 0532-2400034

•

संस्करण : 2013

मूल्य : 90/-

•

आवरण सज्जा : अंतिका आर्ट्स

मुद्रक : इंडिया बाइंडिंग हाउस, ए-98, सेक्टर-65, नोएडा

BHARTIYA CHINTAN PARAMPARAIN : NAYE AAYAM, NAI DISHAYEN

Edited by Krishna Dutt Paliwal

Price : Rs. 90/-

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक में अज्ञेय प्रवर्तित 'हीरानंद-शास्त्री व्याख्यानमाला' के दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान संकलित है। इन दोनों व्याख्यानों को भारत के शिखर दार्शनिक दयाकृष्ण जी, निर्मल वर्मा तथा पंडित विद्यानिवास मिश्र की अध्यक्षता में देते हैं। दोनों व्याख्यानों का विषय बहुत ही चुनौतीपूर्ण है—'भारतीय चिंतन परंपराएँ'। भारतीय चिंतन परंपराएँ एक या दो या तीन की गिनती में गिनी नहीं जा सकती। क्योंकि भारतीय चिंतन परंपराएँ अनेक हैं जिनमें भारतीयता तथा सनातनता के अनेक आयामों पर गहन चिंतन किया गया है। हमारी चिंतन परंपराओं की विशेषता है कि उनमें निरंतर बहस, संदेह तथा तर्क हैं। इन बहसों से नई विचार सूझते हैं। दूसरे, हमारी चिंतन परंपराएँ रूढ़ि और मौलिकता दोनों से गहन चिंतन के स्तर पर जूझती हैं—ताकि परंपरा बंधन न बने। वह हमें मुक्ति की ओर, चिंतन की स्वाधीनता की ओर निरंतर ले जाकर सत्यान्वेषण के लिए प्रेरित करती रहे।

अज्ञेय ने अपने चिंतन क्रम में परंपरा तथा आधुनिकता पर न जाने कितने कोणों से विचार किया है। हिंदी में पहली बार 'परंपरा' को चिंतन के केंद्र में अज्ञेय ही लाएँ और नई बहसों को जन्म दिया। 'सप्तकों' की भूमिकाओं में विशेषकर 'दूसरा सप्तक' 1951 की भूमिका में कहा कि "जो लोग प्रयोग की निंदा करने के लिए परंपरा की दुहाई देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि परंपरा, कम-से-कम कवि के लिए, कोई ऐसी पोटली बाँधकर अलग रखी हुई चीज नहीं है जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले।

(कुछ आलोचकों के लिए भले ही वैसा हो) परंपरा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोंक बजाकर, तोड़-मरोड़कर देखकर आत्मसात नहीं कर लेता; जब तक वह एक गहरा संस्कार नहीं गन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाए। अगर कवि की आत्माभिव्यक्ति एक संस्कार विशेष के वेष्टन में ही सहज सामने आती है, तभी यह संस्कार देनेवाली परंपरा कवि की परंपरा है, नहीं तो, वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान भंडार है जिससे अपरिचित भी रहा जा सकता है।''

अज्ञेय को परंपरा द्रोही, पश्चिमी परंपराओं का नकलची कहा गया तो नई कविता के सिद्धांतकार प्रखर चिंतक-कवि विजयदेव नारायण साही चौंके। अज्ञेय के प्रति यह अंधा अन्याय उनसे बर्दाश्त नहीं हुआ। साही जी ने विचार मंथन के बाद 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' शीर्षक प्रसिद्ध निबंध में लिखा ''बेशक परंपरा का अर्थ हम केवल पुनरावृत्ति लें तो दूसरी बात है। लेकिन यदि परंपरा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती चलती है तो अज्ञेय आगे के इतिहासकार को प्रसाद की ही परंपरा में दिखाई पड़ेंगे। केवल पुनरावृत्ति पर आधारित 'कृष्णकाव्य की परंपरा' आदि संकुचित और भ्रामक अर्थ हमारे मन में बैठाया गया है कि विकासमान या द्वंद्वात्मक अर्थ में हम परंपरा की कल्पना ही नहीं कर सकते।'' (छठवाँ दशक, पृ. 321) आज इन लोगों के लिए परंपराओं का ज्ञान आवश्यक है जो रूढ़ियाँ तोड़कर नया चिंतन करना चाहते हैं। क्योंकि परंपराओं के ज्ञान से ही नए चिंतन का विकास होता है।

परंपरा बोध में द्वंद्व का सूत्र परिवर्तन के साथ जुड़ा है जो चीज एकदम स्थिर है वह हर परिवर्तन से दूर है। इस देश में परिवर्तन और द्वंद्व की कल्पना काफी पुरानी है। बौद्ध-चिंतन में तो परिवर्तन को जीवन-प्रक्रिया का मुख्य धर्म माना गया है। इधर यह भी कई कोणों से सोचा गया है कि परंपराओं के उपनिवेश बन जाते हैं तो उनकी गति-प्रगति मंद पड़ जाती है। कभी-कभार परंपराएँ क्रूर बर्बर तानाशाही में बदल जाती हैं और खून की नदियाँ बहा देती हैं। परंपराएँ वे ही मुक्त होती है जो किसी धर्म, पैगंबर, व्यक्ति-विशेष के पीछे नहीं चलतीं भारतीय परंपराएँ किसी व्यक्ति, पुस्तक विशेष, पैगंबर से नहीं बँधी हैं इसलिए उनमें 'आत्म' और 'अन्य' का खूनी

झगड़ा नहीं है। पश्चिम ने भारतीय परंपराओं की पवित्रता को विकृत और खंडित किया है, इसलिए हम भटक गए हैं। वेद उपनिषद्, रामायण, महाभारत, बौद्ध-जैन वैष्णव परंपराओं का आदर नहीं रहा। हम भूल गए हैं कि आधुनिक सभ्यताएँ आत्मविनाश के ढेर पर बैठी हैं—जो कभी भी ज्वालामुखी बन सकती हैं। कुमार स्वामी हो, अज्ञेय हो, दयाकृष्ण हो, निर्मल वर्मा हो सभी को एक मरुस्थल दिखाई देता है। आधुनिकता की आँधी में मनुष्यता का अर्थ उड़ा जाता है।

हिंदी में जिस ढंग का चिंतन-मनन दार्शनिक दयाकृष्ण ने किया है आमतौर पर ऐसे गंभीर विषयों पर चिंतन नहीं किया जाता। यह व्याख्यान उसी कमी को पूरा करने का प्रयत्न भर है। दूसरे, हिंदी के विद्वानों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे हिंदी के अलावा किसी अन्य विषय की ओर उन्मुख नहीं होते। इसलिए हिंदी प्रदेश वैचारिक स्तर पर विपन्न होते गए हैं। नए विचारों को हिंदी में लाने की दृष्टि से भी यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। हीरानंद शास्त्री व्याख्यानमाला में अनेक विषयों के नामी-गरामी विद्वान—गोविंदचंद्र पांडे, गोवर्द्धनराम शर्मा, विद्यानिवास मिश्र, जड़ावलाल मेहता जैसे प्रकांड विद्वान व्याख्यान दे चुके हैं। दार्शनिक दयाकृष्ण के ये दोनों व्याख्यान उसी परंपरा की कड़ी हैं।

इन व्याख्यानों की प्रेरणा के मूल में अज्ञेय जी रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पाठक समाज इस पुस्तक के व्याख्यानों से वैचारिक स्तर पर नए ज्ञान से संपन्न-समृद्ध होगा।

27.03.2013

कृष्णदत्त पालीवाल
सचिव

पुरोवाक्

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' जी ने *वत्सल निधि* की स्थापना भारतीय साहित्य की सेवा में एकाग्र भाव से समर्पित एक न्यास के रूप में सन् 1980 में की। न्यास का उद्देश्य सामाजिकों के साहित्य संस्कार के साथ सौंदर्य-बोध का संशोधन-संपादन करना रहा। इस संकल्प को मूर्तरूप देने के लिए हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला का आरंभ किया गया।

अज्ञेय जी के पिता का पूरा जीवन इतिहास, कला, पुरातत्त्व, का भाव-यज्ञ करते व्यतीत हुआ। अज्ञेय जी ने अपने पिता की स्मृति में यह व्याख्यान-माला इतिहास-पुरातत्त्व-साहित्य की नई पीढ़ी को नवीन अनुसंधान दृष्टि देने के विचार से प्रेरित होकर शुरू की। उनके पिता पंडित हीरानंद शास्त्री भारतीय इतिहास, पुरालेख, पुरातत्त्व, संस्कृत-भाषा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे और पिता का प्रभाव अज्ञेय के व्यक्तित्व पर बहुत गहराई से पड़ा। संयोग ऐसा रहा कि बालक सच्चिदानंद (बचपन का नाम सच्चा) का लगाव माँ के प्रति कम पिता के प्रति अधिक रहा। पिता के कठोर अनुशासन में वह संस्कारित हुए। अज्ञेय जी साहित्य के चिंतन-सृजन में संस्कार की बात करते कभी थकते नहीं। उनके विचार में अपने को निरंतर संस्कारित करते रहना ही आधुनिकता है। इस आधुनिकता में विद्रोह, क्रांति और अस्वीकार की निर्भयता सम्मिलित है। विद्वान स्व. डॉ. हीरानंद शास्त्री की स्मृति का प्रेरणादायी अर्थ विचार-निष्पत्ति में तब ढला जब यह योजना बनी कि हीरानंद शास्त्री व्याख्यान माला के अंतर्गत प्रतिवर्ष भारतीय इतिहास,

साहित्य, कला और संस्कृति से संबंधित विषयों पर अधिकारी विद्वानों, प्रसिद्ध रचनाकारों, दार्शनिकों, कलाकारों के व्याख्यानों का आयोजन होगा।

वास्तव में, इतिहास-पुरातत्त्व के क्षेत्र में डॉ. हीरानंद शास्त्री की उपलब्धियाँ अद्वितीय ऐतिहासिक महत्त्व की रहीं। एक तपस्वी साधक की भाँति उन्होंने अपना पूरा जीवन पुरातत्त्व-विभाग की सेवा में अर्पित कर दिया तथा उन्होंने पुरालेखा सेवा के अध्यक्ष पद से ही अवकाश ग्रहण किया। कसया, सारनाथ, नालंदा आदि के महत्त्वपूर्ण उत्खनन कार्य उन्हीं की देखरेख में हुए। उन्होंने ही पंजाब के पर्वतीय प्रदेश (आधुनिक हिमाचल प्रदेश का कुछ भाग) के पुरातत्त्व अवशेषों का सर्वेक्षण कार्य किया। इसके साथ जम्मू-कश्मीर राज्य के पुरातत्त्व विभाग का संगठन तथा श्रीनगर में संग्रहालय की स्थापना की। इसी लगन के साथ वह बड़ौदा राज्य के पुरातत्त्व विभाग के संगठन तथा महत्त्वपूर्ण स्थानों के उत्खनन में लगे रहे।

'एपिग्राफिया इंडिका' और 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' का मनोयोग पूर्वक संपादन किया। साथ ही चित्रकला और मुद्राशास्त्र पर खोजपूर्ण पुस्तकें लिखीं। यही कार्य उन्हें रायकृष्णदास, राखालदास बनर्जी तथा काशी प्रसाद जायसवाल से अभिन्न मित्रता की ओर ले गया। देश-विदेश के भारतविदों से उन्हें मान-सम्मान मिला। यहाँ मैं चिंतक-रचनाकार निर्मल वर्मा के हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला-10 'इतिहास स्मृति-आकांक्षा' से एक लंबा उद्धरण देकर आगे बढ़ना चाहूँगा। चिंतक निर्मल वर्मा ने कहा है कि "श्री हीरानंद शास्त्री जिनकी स्मृति में यह व्याख्यान माला आयोजित है, स्वयं अपने समय के एक गुणी और निष्ठावान पुरातत्त्ववेत्ता थे। एक पुरातत्त्ववेत्ता जमीन में नीचे दबी हुई दुनिया में वैसे ही चलता है जैसे जंगल में शिकारी... दृश्य सुरागों के सहारे अदृश्य को खोजता हुआ, जो किसी भी पत्थर, सिक्के या शिलालेख के पीछे से अचानक प्रकट हो सकता है। हर चीज, जो दिखाई देती है, वह सिर्फ एक संकेत और सिग्नल है, किसी ऐसे छिपे खजाने की ओर इशारा करती हुई जो आँखों से ओझल है। ओझल अतीत को ज्यों का त्यों अनावृत्त करना, जैसा वह किसी अन्य समय में जीवित था, यह पुरातत्त्व का काव्यशास्त्र है। इसलिए यह बिल्कुल ही आकस्मिक नहीं था, कि अज्ञेय ने अपने अंतिम वर्षों में जो तीर्थयात्राएँ कीं, वे चाहे कृष्ण की द्वारका में हों, अथवा सीता की जन्मभूमि में, एक तरह से अपने

को उन कालखंडों में ले जाने का प्रयास था, जिन्हें उनके पिता ने विस्मृति के अँधेरे से बाहर निकाला था। स्मृति में विगत को जागृत करना एक प्रकार से अपने भीतर उस खोए हुए समय को पुनः प्राप्त करना है, जो हर कहानी या कविता का अभीष्ट होता है। वे हमारी संस्कृति के उन रिक्त स्थानों और विस्मृत अंतरालों को प्रकाश में लाते हैं, जिन्हें इतिहास के तथ्य अनदेखा कर जाते हैं। विपरीत दिशा से चलते हुए अज्ञेय अपने पिता से आधे रास्ते में मिल गए, जहाँ से साहित्य का पुरातत्त्व-बोध शुरू होता है। कविता का पुरातत्त्व अपने भीतर उसे अनुभव करता है जो बाहर की दुनिया में बीत गया है।"

हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला का प्रथम व्याख्यान त्रिवेणी, कला-संगम, नई दिल्ली के सभागार में 19 से 23 दिसंबर, 1980 में हुआ। इस व्याख्यान-माला का शीर्षक था, 'भारतीय परंपरा के मूल स्वर'। वक्ता थे प्राचीन साहित्य-कला-दर्शन-इतिहास के शीर्षस्थ इतिहासकार और मनीषी चिंतक प्रोफेसर गोविंद चंद्र पांडे। पांडे जी ने प्रयाग विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद गोरखपुर, जयपुर (राजस्थान) विश्वविद्यालयों में प्राचीन इतिहास, भारतीय-संस्कृति के प्रोफेसर पद पर कार्य किया। वह राजस्थान तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। उनके अनेक ग्रंथ हैं—'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास', 'श्रमणिज्म', 'स्टडीज इन द ऑरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म', 'लेक्चर्स आन जैनिज्म', 'अपोह सिद्धि', 'न्याय-बिंदु', 'द मीनिंग एंड प्रोसेस ऑफ कल्चर' तथा हिंदी विद्वानों में बेहद प्रसिद्ध पुस्तक 'मूल्य-मीमांसा'। पांडे जी सृजनशील रचनाकार और अद्‌भुत अनुवादक हैं। दो-तीन काव्य-संग्रहों के साथ उन्होंने थेर गाथा-थेरी गाथा का अनुवाद किया है। उन्होंने 'भारतीय परंपरा के मूल स्वर' विषय को चतुर्भुज बनाकर चार व्याख्यानों में विभक्त किया है।

'सनातनता और ऐतिहासिकता' प्रथम व्याख्यान में भारतीय संस्कृति के आंतरिक स्वर को सनातनता की प्रक्रिया के रूप में धर्म-दर्शन-अध्यात्म में खोजकर सभी को चकित कर दिया। सामान्यतः ज्यादातर भारतीय आध्यात्मिक रहे हैं—अपनी जीवंत भौतिकता के साथ। भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता और आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता मिलकर जीवन को पूर्णता की ओर ले जाते हैं। आंतरिकता के रूप में इतिवृत्त, कर्मकांड,

उपासना, वर्णाश्रम, राजनीतिक व्यवस्था, साहित्य, कला सभी को एक लय से जोड़कर परखा जा सकता है। इतिहास के बारे में भारतीय दृष्टि 'पुनरावर्ती दृष्टि' रही है जिसमें सनातन सत्य के अनुसंधान का संकल्प रहा है। फलतः भारतीय मानस की उन्मुखता घटनाओं, इतिहास वृत्तों पर न टिककर मिथकों-प्रतीकों-पुराणों पर रही है। स्थिति-परिस्थितिवश मध्यकालीन भारत में यह स्वर कमजोर पड़ गया है, जिसके कारण अतीत विस्मृत होता गया।

आधुनिककाल में पश्चिमी आधुनिकता की हवा ने संस्कृति या धर्म के चिंतन को बर्बादी की ओर धकेलने की भूमिका अदा की। आधुनिक मान्यता ने धर्म के स्थान पर संस्कृति को स्थान दिया। परंपरा का एक पक्ष आधुनिक सभ्यता का वह रूप बनने लगा जिसमें अपने को विकसित-परिष्कृत करती है। परंपरा का एक दूसरा पक्ष जो आधुनिकता के अनुकूल नहीं पड़ा, काल के द्वारा निरस्त जकड़न बन गया। फिर भी चिरंतन संस्कारों की अनिवार्यता हमें परंपरा से—पुरानी परंपरा से जोड़े रही जिसे हमारी नई शिक्षा से अर्जित बौद्धिकता ने हमने पृथक किया। संस्कृति की अवधारणा के तात्त्विक विश्लेषण में यह अनुभव किया गया कि संस्कृति की वस्तु-वैज्ञानिक व्याख्या प्रकृति और संस्कृति में ठीक भेद नहीं कर पाती। संस्कृति तो तत्त्वतः एक मूल्य-व्यवस्था है। संस्कृति का प्रकृति से भिन्न एक अलग मूल्य-विश्व (पुरुषतंत्र अर्थव्यवस्था) है। बड़े सूक्ष्म गहन चिंतन से डॉ. पांडे जी ने 'मूल्य और मूल्यानुसंधान', 'संस्कृति की ऐतिहासिकता और उसके आयाम', 'संस्कृति और भारतीयता', 'भारतीय संस्कृति की नई व्याख्याएँ' दी हैं और भारतीय संस्कृति की तथाकथित सामासिकता, मिश्रता का प्रतिवाद किया है।

दूसरा व्याख्यान 'आत्मानं विद्धि' अध्यात्मविद्या और योग पर 'अपनी खोज और ज्ञान का अर्थ' से शुरू हुआ। यहाँ माना कि भारतीय परंपरा में ज्ञानी का मुख्य अर्थ है, आत्मज्ञानी। मानस-प्रतिमा इस आत्मज्ञानी की रही है अंतर्दृष्टि-संपन्न योगी—जिसका मूर्त्त-रूप मोहनजोदड़ों की योगी-प्रतिमा से लेकर सारनाथ की 'बुद्ध-प्रतिमा' तक देखा जा सकता है। पश्चिम में प्राचीन-मध्ययुग दोनों में ज्ञान की कल्पना विषय-प्रधान रही—आत्म-रूप नहीं। भारत की अध्यात्म-विद्या की साधना भागीरथी के समान गंभीर रही है। ज्ञान मानव को काम-कर्म-भोग के चक्र से मुक्त करता है। 'रेलिजन'

में धर्म यहाँ समाता नहीं है—अनर्थ हो जाता है। साधना में एक दिशा पूर्णता की है—एक दिशा की शून्यता की। पूर्णता की दिशा वेदों की है, शून्यता की दिशा बौद्ध, सांख्य चिंतन धाराओं की है। श्रमण परंपरा वेद-विरोधी नास्तिक रही है। किंतु आज भी वेद-भाष्य की परंपराएँ पर्याप्त नहीं हैं। वैदिक दृष्टि में आलोक और अंधकार एक ही मूल की शक्ति की आत्माभिव्यक्ति के दो पक्ष हैं। उपनिषदों में ब्रह्म को जगत का मूल कारण बताया गया है—'सर्व खल्विदं ब्रह्म'। इस तरह वैदिक और श्रमण दृष्टियों के संयोजन से भारतीय आध्यात्मिक परंपरा का निर्माण हुआ। किंतु यह समन्वय महँगा पड़ा और संस्कृति को अवतारवाद, शिव-शक्ति के एकता के बल पर जीना पड़ा।

तीसरा व्याख्यान 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहापाम', 'नैतिक आदर्श और सामाजिक यथार्थ' विषय पर केंद्रित रहा। मनुष्य में पशुत्व का अभाव मननीयता के हेतु से पैदा हुआ और भारतीय सामाजिकता के मूल में भी यही व्याख्या रही। पांडेय जी का कथन है, ''जिस धर्म से भारतीय संस्कृति परिभाषित रही है, वह विवेक का एक विशिष्ट इतिहास है, न कि जात-पाँत, छुआछूत, चूल्हे-चौके की मृत या मुमूर्षु रुढ़ियाँ।'' अतः अतीत का कंकाल नहीं धर्म, वह जीवंत नैतिक मूल्य चेतना है। 'रामायण-महाभारत, मार्कण्डेय पुराण' में यही धर्म-संग्राम है। कर्मयोग की परंपरा ही भारतीय सामाजिकता की परंपरा है। इस तरह धर्म की विशद् व्याख्या का अर्थ है—शील और स्मृति।

चौथा व्याख्यान—'रसो वै सः', 'अनुभूति और अभिव्यक्ति' की विमर्श या भाष्य-चेतना है। अनुभूति ही चेतना की मौलिक शक्ति है और इस मौलिक शक्ति के बिना भाषात्मक प्रतीक व्यवस्था की उत्पति संभव ही नहीं है। न इस शक्ति को माने बिना जिज्ञासा का अनंत व्यापार संभव है क्योंकि ज्ञान और वाणी का मानवीय चेतना से अटूट संबंध है। इसीलिए चेतना की इस स्वरूपगत सांकेतिक शक्ति को भारतीय परंपरा में वाक् कहा गया है। सांकेतिक शक्ति ही अभिव्यंजक शक्ति है। वाक् और मन का मिथुन वाक्-प्राण का मिथुन कहा गया है। इसे ही कश्मीरी शैव दर्शन में प्रकाश और विमर्श का तादात्म्य कहा गया है। ईश्वर ही वास्तविक कवि है और जगत उसकी काव्याभिव्यक्ति। भारतीय काव्य कला की परंपरा

में मनुष्य के ऐतिहासिक रूप की खोज नहीं है बल्कि सनातन स्वरूप की खोज है। तपस्या के बिना इस शक्ति को पाना संभव नहीं है। कलानुभूति एक महाभाव का तप है। हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला के अंतर्गत द्वितीय व्याख्यान शृंखला का आयोजन 30 जनवरी से 2 फरवरी, 1982 ई. में त्रिवेणी कला संगम, नई दिल्ली के सभागार में हुआ था। शृंखला का सामान्य विषय था, 'आधुनिकता: शाप और भक्ति।' वक्ता थे अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त समाजशास्त्री प्रो. अवध किशोर सरन। दुर्भाग्यवश यह मूल्यवान व्याख्यान-माला अप्रकाशित ही रह गई है।

डॉ. हीरानंद शास्त्री स्मारक तृतीय व्याख्यान माला के अंतर्गत भारतीय पुरातत्त्व के प्रख्यात विद्वान डॉ. गोवर्द्धन राय शर्मा ने 'भारतीय संस्कृति: पुरातात्त्विक आधार' विषय पर चार व्याख्यान दिए। मूल विषय को उन्होंने चार उपशीर्षकों में विभाजित किया—1. भारत : मानव और उसका पर्यावरण, 2. विंध्य-गांगेय संस्कृतियों का उदय : यायावरीय एवं शालेय वृत्तियाँ-आखेटक एवं कृषक, 3. ग्राम से नगर : विंध्य गांगेय एवं सैंधव संस्कृतियाँ और 4. संस्कृति के स्वरूप का उन्मीलन।

डॉ. शर्मा ने प्रयाग विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त कर मनीषी पंडित क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय के दिशा-निर्देश में वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन सर मॉर्टिमर ह्वीलर के निर्देशन में पुरातात्त्विक उत्खनन में प्रशिक्षण प्राप्त किया। कौशांबी में उत्खनन में उन्होंने महत्त्वपूर्ण साक्ष्यों की खोज की। 1955 में वह प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के संस्थापक अध्यक्ष तथा 1958 में उसी विभाग में आचार्य के पद पर सुशोभित किए गए। अमेरिकी पुरातत्त्वज्ञ डॉ. डेस्मड क्लार्क के साथ उन्होंने सोन घाटी और विंध्य क्षेत्र में उत्खनन कार्य किया। तत्पश्चात वह तुलनात्मक पुरातत्त्व और नृजातिभाषिक अध्ययन से संबद्ध होकर भारत-सोवियत परियोजना के निदेशक रहे। उनकी पुस्तकों में 'द एक्सकैवेशन्स एट कौशांबी', 'कुषाण स्टडीज', 'बिगिनिग्स ऑफ एग्रीकल्चर', 'हिस्ट्री टू प्री हिस्ट्री' विशेष उल्लेखनीय हैं।

'भारतीय संस्कृति : पुरातात्त्विक आधार' शीर्षक के चार उपशीर्षक बनाकर डॉ. शर्मा ने विषय के गूढ़ पक्षों पर प्रकाश डाला। प्रथम व्याख्यान में विगत शताब्दी में भारतीय प्रागैतिहास के क्षेत्र में पूर्व पाषाणकाल की

उपलब्धियों का विवेचन किया। दूसरे व्याख्यान में विंध्य-गांगेय संस्कृति के उदय का नए संदर्भों में विश्लेषण-मूल्यांकन प्रस्तुत किया। उत्तरपूर्व पाषाणकाल मानव की विकास यात्रा की एक विशिष्ट मंजिल है। 1875 ई. में प्राप्त अल्टामीरा के भित्तिचित्रों से तत्कालीन मनुष्य की सर्जनात्मकता और सौंदर्य-बोध का आभास हुआ। उसके बाद भूमध्य सागर एवं अफ्रीका के कुछ भागों से भित्तिचित्रों एवं तक्षण कला के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होते गए। अध्ययनों ने मानव के 10 लाख वर्षों के इतिहास को उजागर किया। उन्होंने पाया कि पश्चिम एशिया नव पाषाणकाल के विकास का एकमात्र नाभिकीय केंद्र था। तीसरे व्याख्यान में विंध्य-गांगेय एवं सैंधव संस्कृतियाँ विमर्श के केंद्र में रहीं। नव पाषाणकालीन साक्ष्य भारत के अन्य कुछ क्षेत्रों में—कश्मीर घाटी, विंध्य-गंगा घाटी, पूर्वी उत्तर भारत और असम प्रदेश, छोटानागपुर, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा में मिले हैं। इन क्षेत्रों के नवपाषाणकालीन मानव को धन की जानकारी थी। चौथा व्याख्यान 'विंध्य-गांगेय संस्कृति के स्वरूप का उन्मीलन' पर हुआ। उन्होंने कहा कि विंध्य-क्षेत्र में धान की खेती का आरंभ सातवीं एवं छठी सहस्राब्दी ईसापूर्व से सिद्ध होती है। सप्त सैंधव एवं सरस्वती घाटी में सघन बस्तियों के प्रमाण मिले हैं, लेकिन वहाँ धान की खेती का कोई प्रमाण नहीं है। धान को गंगा घाटी में प्रीहि कहा जाता था और वन्य-धान्य को नीकार। ब्रीहि आर्य भोजन का अनिवार्य अंग था तथा उसे देवताओं को अर्पित किया जाता था। अथर्ववेद में उसे 'ओदन' कहा गया है। यहाँ अथर्व में ओदन का वही स्थान है जो ऋग्वेद में सोम का है। पुरातत्त्व विद् अ. शर्मा ने आर्यों की उत्पत्ति और आर्य भाषा भाषियों के विभिन्न क्षेत्रों में आव्रजन पर विभिन्न दृष्टिकोण से विचार किया है। रामायण-महाभारत के भीतर से भारी अनुसंधान किया है तथा विष्णु एवं भागवत की प्राचीनता पर अद्‌भुत खोज है। पुराणों के भारतीय संस्कृति में योगदान पर इस व्याख्यान में अनुपम चर्चा है। भारतीय महाकाव्य निरंतर प्रवहमान, परिवर्द्धन एवं परिवर्तन की प्रवृत्ति प्रस्तुत करते हैं जो गाथा, नाराशंसी, आख्यान आदि के निरंतर प्रवर्द्धमान संकलन हैं। भारतीय पुरातात्त्विक साक्ष्यों से डॉ. शर्मा ने भारतीय-संस्कृति का नवमूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

डॉ. हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला की चौथी कड़ी त्रिवेणी

कला-संगम के सभागार में 27 से 30 दिसंबर, 1983 को आयोजित की गई। वक्ता थे डॉ. कुमार विमल और विषय था—'सौंदर्य चिंतन और कला धारणा के नए आयाम'। इस विषय के चार उपशीर्षक थे—1. सौंदर्य चिंतन का स्वरूप, 2. कला धारणा का विकास, 3. संप्रेषण की नवीन प्रविधियाँ और 4. सौंदर्य एवं कला के नए आयाम।

वत्सल निधि की ओर से श्री हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला के अंतर्गत पाँचवीं व्याख्यान माला नई दिल्ली के त्रिवेणी कला संगम सभागार में 18 से 21 जनवरी को आयोजित की गई। व्याख्याता थे हिंदी, संस्कृत और भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान पंडित विद्यानिवास मिश्र। व्याख्यान का शीर्षक था—'महाभारत का काव्यार्थ'। इस विषय के तीन उपशीर्षक थे—1. महाभारत का सत्य, 2. महाभारत की पीड़ा और 3. महाभारत का अन्मय भाव।

भारतीय साहित्य में महाभारत न केवल बहुचर्चित ग्रंथ है बल्कि समस्त भारतीय साहित्य का स्रोत ग्रंथ माना जाता है। मिश्र जी ने कहा है, ''केवल इस अर्थ में स्रोत ग्रंथ नहीं कि उसकी मुख्य कथा और छोटी कथाओं के आधार पर समस्त भारतीय भाषाओं में काव्य, नाटक, चंपू लिखे गए हैं, बल्कि इस अर्थ में भी कि महाभारत में प्रस्तुत मानव-स्वरूप भारतीय मन पर छाया हुआ है और जब कभी भी अंधकार के क्षण में किसी रचनाकार को राह नहीं दिखती है तो उसे महाभारत से आलोक मिलता है। इसीलिए उसे ज्ञानमय प्रदीप कहा गया है। वह एक सनातन स्रोत है और निरंतर आधुनिक है। इस ज्ञानमय-प्रदीप पर पहला व्याख्यान 'महाभारत का सत्य' पर हुआ। महाभारत काव्य, इतिहास, पुराण से गुंथा हुआ जातीय प्रज्ञा का काव्य है। आनंदवर्धन ने महाभारत को आदि से न पढ़कर अंत से पढ़ा और मान्यता को सही पाया। महाभारत का अपराजयभाव है कि अनुकूल से प्रतिकूल से पराजय को हृदय से स्वीकार न करो। कई अर्थों में महाभारत का काव्यार्थ रामायण के काव्यार्थ से अलग है। महाभारत वासुदेव-भाव का काव्य है। मन की चिंता के कारण ही कृष्णा नरोत्तम हैं। दूसरा व्याख्यान 'महाभारत की पीड़ा'। महाभारत के केंद्र में करुणा ही लहराती मिलती है। व्यासदेव पांडवों के प्रति दुर्योधन उनके साथियों का मनोभाव देखकर बहुत पीड़ित और चिंतित हैं। व्यास तो सत्यवती से यहाँ

तक कहते हैं कि अंबिका और अंबालिका दोनों विधवा वधुओं को लेकर वन में तप करने चली जाओ। आगे घोर विनाश उपस्थित है—झेल नहीं पाओगी। पुरुष समाज से विद्रोहिणी द्रौपदी लोहा लेती है। श्रीकृष्ण उसके मित्र हैं—अन्याय के विरोध में खड़े हैं। महाभारत छोटे सत्य, छोटी नैतिकता, छोटी बुद्धि को बड़े सत्य, बड़ी नैतिकता और बड़ी बुद्धि के आगे झुकाता है। लगता है महाभारत-कार किसी भी बड़प्पन को अवध्य नहीं रहने देना चाहते, न किसी अकिंचनता को हीन होते देख सकते हैं।''

तीसरा व्याख्यान है 'महाभारत का अव्यय भाव'। महाभारत में सत्य के दो पक्ष हैं—एक निर्मम और दूसरा करुण। निर्मम का यहाँ अर्थ है ममता का अभाव। इस निर्ममता के प्रतीक हैं—धृतराष्ट्र। इसके विपरीत अर्जुन में योद्धा की करुणा है जो शत्रु सेना का, अपने जनों का निर्मम होकर संहार करने में अक्षम है। गीता ने इन दोनों सत्यों को पूरी उत्कटता से व्यक्त किया है। मिश्र जी की स्थापना है कि महाभारत के सत्य का झुकाव अव्यय भाव की ओर है, जो जीवन और जगत, सत्य और झूठ के परस्पर विरोधी भावों में अभिव्यक्ति पाता है। जीवन संघर्षों के भयंकर कोलाहल में तथा युद्ध की भीषण विभीषिकाओं के बीच इस सनातन अव्यय-तत्त्व को जानना और जीना-भोगना—यह ऐसा विलक्षण संदेश है जो और कहीं नहीं मिलता है।

वत्सल निधि की छठी श्री हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला का आयोजन 18 से 21 दिसंबर 1985 ई. दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में आयोजित किया गया। विषय था 'कवि कर्म और चिंतन: सर्जना के आयाम'। वक्ता थे, प्रसिद्ध विद्वान डॉ. जड़ावलाल मेहता। डॉ. मेहता उन विरल भारतीय दार्शनिकों में से रहे हैं जिनकी सर्जनात्मक दृष्टि तत्त्व मीमांसा में बहुत गहरे तक उतरकर अनुसंधान करती है। यह उन्हीं की शक्ति है कि वे दर्शन के क्षेत्र का विस्तार कवि-कर्म तक कर सकते हैं। दर्शन और साहित्य दोनों में उनका ध्यान समग्र मानव पर रहता है। मेहता जी का मुख्य क्षेत्र दार्शनिक चिंतन का रहा है। उनकी पुस्तक 'द फिलासफी ऑफ मार्टिन हेडेगर' देश-विदेश में विद्वानों द्वारा सराही गई। वह बनारस विश्वविद्यालय में दर्शन के आचार्य रहे और अनेक विदेशी विश्वविद्यालयों में अतिथि प्रोफेसर। उन्होंने 'कवि कर्म और चिंतन : सर्जना के आयाम' विषय को

चार उपशीर्षकों में विभाजित किया—1. स्मृति और सर्जना, 2. युगबोध, 3. पत्र धीरा मनसा वाचसक्रत और 4. कवि और दार्शनिक। अपने व्याख्यानों के आरंभ में ही डॉ. मेहताजी ने स्पष्ट कर दिया था कि पहले तीन व्याख्यान कुछ ऐसे आयामों पर प्रकाश डालते हैं जो कवि कर्म और चिंतन में समान हैं। मूलत: ये आयाम हैं—परंपरा का स्मरण, अपने काल की चेतना और दोनों के कार्य में वाक् का या शब्द का स्थान। चौथे भाषण में कवि और चिंतक का तुलनात्मक विवेचन काव्य और तत्व चिंता में कल्पना की भूमिका और दोनों में सूक्ष्म-भेद के निर्धारण पर केंद्रित रहेगा।

डॉ. मेहता ने 'स्मृति और सर्जना' प्रथम व्याख्यान में यह विचार-प्रस्तुत किया कि कविता और तत्त्व चिंता मूलत: सार्वजनिक होते हैं—लेकिन दोनों में व्यक्त अर्थ किसी न किसी संस्कृति विशेष से संदर्भित होकर ही अभिव्यक्ति होता है। इस कारण दोनों ही अपनी सांस्कृतिक परंपरा से पोषित होते हैं। सार्थक रचना करने की क्षमता और शक्ति परंपरा पर स्मृति से ही प्राप्त होती है। मूल विचार यह कि कवि और चिंतक दोनों नए अर्थों का सर्जन और अन्वेषण करते हैं। दोनों भूली-बिसरी हुई अर्थ संभावनाओं को जागृत करते हैं। यह साधना स्मृति के द्वारा से गुजरकर ही संभव हो पाती है। दूसरे व्याख्यान 'युग-बोध' में डॉ. मेहता जी ने आज की बौद्धिक परिस्थिति का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए कहा कि विश्व की चार प्रमुख सभ्यताएँ-यूरोप, मध्यपूर्व, चीन और भारत दो हजार वर्षों तक अपनी स्वायत्त रचनाएँ और पारस्परिक संतुलन बनाए रह सकी थीं। लेकिन 1500 ई. के बाद संतुलन बिगड़ने लगा और यूरोप अन्य सभ्यताओं पर हावी होता गया। उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते ऐसा लगा कि यूरोपीय चेतना ही मानो सार्वभौम चेतना हो गई। आज के कवि और चिंतक के सामने असली चुनौती यही है कि अपने जीवन के अतीत प्रत्ययों को आज की चेतना से और आज के यथार्थ से जोड़ने की ओर उन्मुख हों। डॉ. मेहता ने पूर्व और पश्चिम की अवधारणाओं पर विस्तार से विचार-विमर्श किया। हाइडेगर का विचार था कि पृथ्वी पर फैलते जाते मरुस्थल से मानव की अंतरात्मा को बचाना होगा और यह कार्य कवि-कर्म और चिंतन से ही संभव है।

तीसरा व्याख्यान 'पत्र धीरा मनसा वाचसक्रत' के शुरू में ही स्पष्ट

किया कि हम अपनी संस्कृति को पश्चिमी दृष्टि और शब्दावली से समझना चाहते हैं जबकि पश्चिमी भाषाएँ वहाँ की 'मेटा फिजीकल' विचार प्रणाली और प्रत्ययों से बनी होने के कारण हमारी संस्कृति के सारतत्त्व को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है। हेडेगर ने जिसे विश्व-चेतना का पूर्ण यूरोपीकरण कहा है उसके पीछे यही मारक प्रक्रिया काम कर रही है। क्योंकि यूरोपीकरण एक अनिवार्य शर्त है और वह अपनी शर्तों पर सब कुछ समझना चाहता है। हिंदी को यूरोपीकरण से मुक्त होना है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह तीन हजार वर्षों की दार्शनिक शब्द-राशि से पुन: जुड़े। संस्कृत ने हमारे चिंतन को एक विशेष ढाँचे में ढाला है—चिंतन में अनेकत्व है। सोलहवीं शताब्दी से भारत की सर्जनात्मक ऊर्जा संस्कृत से प्रांतीय भाषाओं में चली गई काव्य के रूप में। आज जरूरत है हम वाक् तत्त्व से संबंधित भारतीय समझ को गहराई से समझने की चेष्टा करें। कोरी गौरवगाथा के बखान का युग गया।

चौथा व्याख्यान 'कवि और दार्शनिक' में डॉ. मेहता जी ने दोनों की समान भूमिकाओं का निरुपण करते हुए कहा कि काव्य और चिंतन दोनों ही शब्द सिद्ध होते हैं। कवि के लिए भाषा माध्यम भर नहीं, स्वयं में साध्य वस्तु हैं। संस्कृति के इतिहास में काव्य और चिंतन दोनों के रूप बदलते रहते हैं। लेकिन क्या तो आज भारत में तत्त्व-चिंता की वर्तमान स्थिति बहुत कमजोर है। कवि और चिंतक भाषा के सेवक होने के साथ अकथ्य के भी सेवक हैं। दोनों ही वागर्थ के उपासक हैं। वेदों में कवि और चिंतक का अद्वैत है, हमें उससे प्रेरणा लेनी चाहिए। डॉ. मेहता ने कहा कि कवि और चिंतक दोनों परंपरा से जूझते हैं, उससे विद्रोह करते हैं और उसके बड़े पैने आलोचक होते हैं। कवि और चिंतक परंपरा की जड़ता को तरल करके, परिष्कृत करके परंपरा का नया संस्कार करते हैं। ''कवि और चिंतक में मुख्य भेद यह है कि कवि कहता है चिंतक पूछता है। कवि अकथित का कथन करता है, कथा-पथ पर चलते रहकर हमारे अर्थों से निर्मित जगत की सृष्टि करता है, एक आलोक है जिसे वह पाता है, स्वयं बनाता नहीं, उसे अपनी कलाकृति में अवतरित और रचित करता है। उसे मूर्त्तरूप देता है और हमारी जीवन-संस्कृति का अंग बना देता है।'' काव्य ही सभी कलाओं का मूलाधार है। कवि नई दुनिया का सृजन करता है।

अर्थों की संरचना और अनुभव शैली को बदलता है।

हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला वत्सल निधि के इस विशिष्ट कार्यक्रम में कथाकार-कवि-आलोचक डॉ. रमेशचंद्र शाह ने 'अज्ञेय के कवि-कर्म और चिंतन' विषय पर चार व्याख्यान दिए थे। इन व्याख्यानों को आज हम 'अज्ञेय : वागर्थ का वैभव' शीर्षक पुस्तक में पाते हैं। शाह जी ने इन व्याख्यानों को चार उपशीर्षकों में विभाजित किया है—प्रथम अध्याय, 'जितना तुम्हारा सच है', द्वितीय अध्याय, 'वहाँ पर बच जाए तो', तृतीय अध्याय, 'नदी तुम बहती चलो' तथा चतुर्थ अध्याय, 'है राह कुहासे तक ही नहीं।' यहाँ प्रथम व्याख्यान में 'आत्म प्रत्यभिज्ञा की नई राह' द्वितीय व्याख्यान में 'अकेले का आत्मदान' तृतीय व्याख्यान में 'आलोचक, राष्ट्र और भारतीय आधुनिकता' तथा अंतिम चतुर्थ व्याख्यान में 'अज्ञेय का स्वातंत्र्य-दर्शन' पर विचार व्यक्त किए हैं। शाह जी लंबे समय से अज्ञेय जी के साथ बहुत गहरे जुड़े रहे हैं और एक श्रोता के रूप में हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान मालाओं को सुनने-गुनने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रोफेसर जड़ावलाल मेहता के 'कवि-कर्म और चिंतन' विषयक एक व्याख्यान में तो वह अध्यक्ष ही बनाए गए थे। वह वर्षों से निरंतर वात्स्यायन जी के साथ इन व्याख्यानों पर विचार-विमर्श करते रहे। बौद्धिक जगत की इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं के साक्षी शाह जी ने अंततः एक दिन अज्ञेय जी के कवि-कर्म और चिंतन पर व्याख्यान देने के विचार को मान लिया। यह प्रस्ताव भी इलाजी तथा अन्य विद्वान मित्रों की ओर से आया था। शाह जी ने अपने स्वभाव के अनुकूल पहले तो हिचके-उचके, लेकिन विद्वान मित्रों के अनुनय विनय पर व्याख्यान देने को सहमत हो गए। अज्ञेय जी कवि और चिंतक दोनों रूपों में शाह जी को आकृष्ट भी करते थे और इस तरह का आकर्षण महाराना ही इन व्याख्यानों में बड़े ही ऊपजाऊ रूप में यहाँ आया भी। इन व्याख्यानों में सर्जक और चिंतक शाह जी की अद्‌भुत मनीषा का सर्जनात्मक विस्फोट इस रूप में हुआ है कि आज भी उनके ये चार व्याख्यान हिंदी-आलोचना में अज्ञेय के कवि कर्म और चिंतन को लेकर अविस्मरणीय हो गए हैं। शाह जी के चिंतन विश्लेषण में हिंदी की सर्जनात्मक आलोचना का एक नया पाठ ही रच-पच कर आ गया है। यह व्याख्यान माला की चौदहवीं कड़ी थी, लेकिन मैंने इसे प्रोफेसर जड़ावलाल

मेहता के 'कवि कर्म और चिंतन' के साथ 'अज्ञेय के कवि कर्म और चिंतन' में एक आंतरिक संबंध पाकर इस खंड में इन व्याख्यानों को दे दिया है। एक ओर सैद्धांतिक चिंतन दूसरी ओर व्यावहारिक आलोचना इन दोनों के योग से पाठक को नया वैचारिक आलोक मिलेगा।

वत्सल निधि द्वारा प्रवर्त्तित श्री हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला की पुस्तकों को एक साथ उपलब्ध कराना मात्र हमारा उद्देश्य है। वत्सल निधि के अध्यक्ष माननीय डॉ. कर्ण सिंह जी की हार्दिक इच्छा रही है कि इन उत्तम व्याख्यानों को पाठकों तक पहुँचाया जाए। यह खंड-संकलन उन्हीं की प्रेरणा का मूर्त्तरूप है। निश्चय ही इन व्याख्यानों का उन सभी शोध-संस्थानों और अध्ययन केंद्रों में स्वागत होगा जिनका साहित्य, कला, दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, समाजशास्त्र, संस्कृति चिंतन से कोई भी संबंध है।

मैं वत्सल निधि के सदस्य-सचिव प्रोफेसर इन्द्रनाथ चौधुरी जी के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनका स्नेह सहयोग निरंतर मिलता रहा है।

अंत में, मैं सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन और उससे जुड़े सहयोगियों का आभारी हूँ, जिनसे यह कार्य करने में सहयोग मिलता रहा है।

कृष्णदत्त पालीवाल
प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिंदी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

8 अक्तूबर, 2010

वत्सल-निधि

वत्सल-निधि (स्थापित 1980) के न्यासपत्र के अनुसार उसके उद्देश्य ये हैं–

– साहित्य और भाषा की संवर्द्धना; साहित्यकारों और विशेषत: युवा लेखकों की सहायता; साहित्यिक अभिव्यक्ति, प्रतिमानों, संस्कारों का तथा साहित्य-विवेक और सौंदर्य-बोध का विकास; अन्य सभी संबद्ध आनुषंगिक कार्य।

इन लक्ष्यों के लिए अपने साधनों की सीमाएँ ध्यान में रखते हुए वत्सल निधि निम्नलिखित कार्यों का आयोजन करेगी–

- व्याख्यान-मालाएँ, शिविर, कार्यशालाएँ, संगोष्ठियाँ, परिसंवाद, सभाएँ, उत्सव और यात्राएँ;
- संदर्भ सामग्री और दस्तावेजों का संग्रह, दृश्य-श्रव्य उपकरणों का संग्रह तथा फिल्म, टेप, चित्र, पांडुलिपि आदि का निर्माण, संग्रह, संपादन आदि;
- लेखकों के लिए विनिमय, भ्रमण, सहयोग और सहायता के कार्यक्रम;
- शोध अथवा लेखनावकाश वृत्तियाँ;
- पत्रकों और पुस्तिकाओं का प्रकाशन, आदि।

स्व. डॉ. हीरानंद शास्त्री (1874–1946), जिनकी स्मृति में वत्सल निधि द्वारा एक व्याख्यान माला का प्रवर्तन हुआ है, भारतीय इतिहास, पुरालेख

तथा पुरातत्त्व के प्रसिद्ध मर्मज्ञ और संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भारतीय भाषाओं के विद्वान थे। कुशीनगर, सारनाथ, नालंदा आदि के महत्त्वपूर्ण उत्खनन उनकी देखरेख में हुए थे। पंजाब के पर्वतीय प्रदेश के पुरावशेषों का सर्वेक्षण, लखनऊ संग्रहालय की स्थापना, तत्कालीन जम्मू-कश्मीर राज्य में पुरातत्त्व विभाग की और श्रीनगर संग्रहालय की स्थापना, बड़ौदा राज्य में पुरातत्त्व विभाग का संस्थापन और बड़ौदा संग्रहालय के भारतीय खंड का पुन:संगठन और गुजरात के विभिन्न स्थलों में उत्खनन कार्य का आरंभ उन्होंने किया।

डॉ. हीरानंद शास्त्री के प्रकाशनों में कई शोध प्रबंध और प्राचीन स्थलों की परिचायिकाएँ भी हैं। चित्रकला और मुद्राशास्त्र के बारे में उन्होंने पुस्तकें लिखीं। *एपीग्राफिया* तथा *इंडियन एंटिक्वेरी* का उन्होंने कई वर्षों तक संपादन किया। विंसेंट स्मिथ के भारतीय इतिहास की एक लंबी और विवरणात्मक आलोचना प्रकाशित करने की सरकारी अनुमति न मिलने पर उन्होंने उसे निजी तौर पर इतिहासविदों के पास अवलोकनार्थ भेजा था।

डॉ. हीरालाल, श्री राखालदास बंद्योपाध्याय और डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल उनके अभिन्न मित्रों और सहयोगियों में रहे। इसके अतिरिक्त देश और विदेश के अनेक विद्वानों और भारतविदों से उन्हें सम्मान मिला। इनमें स्व. गौरीशंकर ओझा, राहुल सांकृत्यायन, राय कृष्णदास, वोगेल, लेवी, सेनार, ओल्डहम, फ्रेंच आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारतीय चिंतन परंपराएँ

नए आयाम, नई दिशाएँ

भारतीय चिंतन परंपराएँ : नए आयाम, नई दिशाएँ

[दिनांक : 9. 12. 1997; सायं 6 बजे]

सुश्री इला : यह कार्यक्रम जिस वातावरण में शुरू करना चाहते थे वह नहीं हो पा रहा है। श्री शिवराम कारंत का देहावसान आज ही हुआ है। उनकी आत्मा की शांति के लिए हम सब प्रार्थना करते हैं। उनका वात्स्यायन जी से निकट का संबंध था। अत: एक तरह से दोनों का ही स्मरण कर लेते हैं। '**साम्राज्ञी का नवैद्यदान**' है :

हे महाबुद्ध!
मैं मंदिर में आई हूँ
रीते हाथ :
फूल मैं ला न सकी।

औरों का संग्रह
तेरे योग्य न होता।

जो मुझे सुनाती
जीवन के विह्वल सुख-क्षण का गीत—
खोलती रूप-जगत् के द्वार जहाँ
तेरी करुणा
बुनती रहती है

भव के सपनों, क्षण के आनंदों के
रह:सूत्र अविराम—
उस भोली मुग्धा को
कँपती
डाली से विलगा न सकी।

जो कली खिलेगी जहाँ, खिली,
जो फूल जहाँ है,
जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित, पुलकित,
मैं उसे वहीं पर
अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल
हे महाबुद्ध!
अर्पित करती हूँ तुझे।

वहीं-वहीं प्रत्येक भरे प्याला जीवन का,
वहीं-वहीं नैवेद्य चढ़ा
अपने सुंदर आनंद-निमिष का,
तेरा हो,
हे विगतागत के, वर्तमान के, पद्मकोश!
हे महाबुद्ध!

जापान की साम्राज्ञी कोमियो, प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध मंदिर में जाते समय असमंजस में पड़ गई कि चढ़ाने को क्या ले जाए, फिर रीते हाथ गई थी। यही घटना कविता का आधार है। 40 वर्ष पूर्व 1957 में कवि अज्ञेय ने इस कविता को लिखा था। आज उसी को स्वस्तिवाचन मानकर साहित्य एकेडेमी की ओर से और वत्सल निधि की ओर से श्री हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यानमाला में आप सब का स्वागत है। 1980 में वात्स्यायन जी ने अपने पिता श्री हीरानंद शास्त्री की स्मृति में इस व्याख्यानमाला को स्थापित

किया। यह उसकी 17 वीं शृंखला है। इस व्याख्यानमाला के आमंत्रण को देश के मूर्धन्य चिंतक, दार्शनिक डॉ. दयाकृष्ण ने देना स्वीकार किया है। आज के अध्यक्ष निर्मल वर्मा जी हैं। मेरा उनसे निवेदन है वह मंच सँभालें।

श्री निर्मल वर्मा : दया जी, डॉ. पांडे, यह हम सबका सौभाग्य है कि हमारे बीच आज डॉ. दयाकृष्ण मौजूद हैं। डॉ. दयाकृष्ण के परिचय की तो खैर कोई आवश्यकता नहीं है, लेकिन मैं दो शब्द, वह अपना व्याख्यान शुरू करें, कुछ कहना चाहूँगा। आपने देखा ही होगा कि आज जिस विषय पर वह बोलना चाह रहे हैं वह है—हमारी चिंतन परंपराएँ : उनके आयाम और नई दिशाएँ। यह अपने में एक बहुत ही विचारोत्तेजक विषय कम-से-कम आज के समय में मुझे जान पड़ता है।

आज जबकि स्पेशलाइजेशन का दौर इतना घना हो गया है कि समाजशास्त्र और साइंस, कला, साहित्य छोटे-छोटे वर्गों में सीमित हो गई हैं, एकेडेमिक ढाँचों में बँध गई हैं, वहाँ डॉ. दयाकृष्ण, मैं समझता हूँ, ऐसे कम अपवादों में से एक हैं जिन्होंने बिना इन एकेडेमिक अनुशासनों की सीमाओं की चिंता किए दर्शन को, तत्त्व चिंतन को जीवन की हर उठती हुई समस्या के बीच में आँकने की, समझने की और पुनः परिभाषित करने की जरूरत महसूस की है। उन्हें देखकर मुझे कभी-कभी ग्रीक दार्शनिकों की याद आती है जिनके लिए कोई विचार अंतिम विचार नहीं है। हर विचार के आगे एक तरह का प्रश्न लगता रहता है। वह कहते भी अक्सर यह हैं कि विचार का विकास ही प्रश्नों के पूछने की प्रक्रिया से शुरू होता है। और परंपरा जैसे विषय के बारे में जहाँ हम यह मान लेते हैं, चाहे वह भारतीय परंपरा हो या परंपरा जैसी कोई चीज हो, वह एक बँधी हुई चीज है, एक समय में आबध चीज है। दयाजी ने हमेशा उसे चुनाव दिया है। किसी भी विश्वास, चाहे वह कितना ही परम पवित्र विषय क्यों न हो, वह धीरे-धीरे एक रूढ़ गति में आबध हो जाएगा, अगर उसे खुले संसार में, खुली सृष्टि में विचारों के खुले मैदान में उसे न लाया जाए। वह बराबर पिछले 25-30 वर्षों से करते आ रहे हैं। समाजशास्त्र के बारे में, पॉलिटिक्स के बारे में, दर्शन को केंद्र में रखकर उन्होंने जीवन के

सब आयामों को छूने की और पुनः परिभाषित करने की चेष्टा की है। इसीलिए आज के समय में मैं समझता हूँ उनका यह चुनाव, इस विषय का चुनाव मुझे बहुत ही प्रासांगिक जान पड़ता है। हम सब उन्हें सुनने के लिए बहुत उत्सुक हैं। हम सचमुच जानना चाहेंगे कि भारतीय परंपरा चिंतन की कौन सी ऐसी दिशाएँ हैं जो आज भी नए उन्मेषों में उद्घाटित की जा सकती हैं, नई दिशाओं में उनकी खोज की जा सकती है। डॉ. दयाकृष्ण जी।

डॉ. दयाकृष्ण : इन दो लेक्चर्स का शीर्षक है—भारतीय चिंतन परंपराएँ : नए आयाम, नई दिशाएँ। पहली बात तो यह है परंपराएँ अनेक हैं। हम कुछ यह मानकर चलते हैं, कम-से-कम जो लोग परंपरा की बात करते हैं कि कोई एक ही परंपरा है भारत में, पर ऐसा नहीं है। इसी व्याख्यानमाला के प्रथम व्याख्यान में पांडे जी, जो यहाँ मौजूद हैं, उन्होंने भारतीय परंपरा के मूल स्वर की बात की थी कि मूल स्वर वही है या अलग। जिन लोगों ने पांडे जी के व्याख्या को पढ़ा है, उन्हें यह जानकर, पता नहीं उन्हें याद है या नहीं है, पहला मूल स्वर है ''आत्मानावृद्धि, दूसरा है—धर्मस्य तत्त्वम् निहतम् गुहायाम, तीसरा है—समभाव युगे-युगे और चौथा है—रसोवही सः। प्रश्न यह है परपंराएँ क्या यही हैं, क्या यही मूल स्वर हैं? देखिए, इसी के एक श्लोक का जो उन्होंने अंतिम भाग लिया है उसका पहला भाग अगर मैं आपके सामने प्रस्तुत करूँ और वहीं से बात शुरू करूँ तो आपके आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा। एकोनऋषि यश वचः प्रमाणम। यह परंपरा कहती है कि एक भी ऋषि ऐसा नहीं है जिसका वचन प्रमाणित माना जाए। इस परंपरा के मूल में एक ऐसी आवाज है जो सब पर संदेह करती है, प्रश्नचिह्न लगाती है। हम उसे क्यों नहीं उभारते? आप देखिए, आत्म न वृद्धि। पांडे जी तो बुद्धिज्म के बड़े प्रकांड पंडित हैं। उन्होंने इसी को क्यों चुना? बुद्ध के उन वचनों को क्यों नहीं चुना—आत्म दीपो भव। अब आप अगर इन दोनों को मिलाएँ तो क्या परंपरा के मूल स्वर बनते हैं। बुद्ध प्रत्येक से कहते हैं—आत्म दीपो भव। दूसरा कहता है एकोन ऋषि यश वचः प्रमाणम। आओ, सब मिलकर रास्ता खोजें और जो परंपरा है उनको जानने की कोशिश करें। पर यह जानना क्या होता है, परंपरा क्या होती है। आज परंपरा शब्द को

ही इतना गलत समझा जाने लगा है जैसे कोई दकियानूसी बात है। जैसे उसकी किसी को कोई जरूरत नहीं है। और उसकी बात करना ही बेकार है। यही उस मानसिकता की द्योतक है, उस बोधिकता की द्योतक है जो समझती ही नहीं है कि परंपरा होती क्या है। अरे, आप अपने से पूछिए कि आप उस भाषा को लीजिए जो आप बोलते हैं, वह आपको कैसे मिली है। परंपरा से मिली है। भाषा आप स्वयं तो नहीं गढ़ते, आप स्वयं नहीं रचते, मिलता है, आपको कुछ कहीं से मिलता है, फिर आप उस भाषा में, यहाँ तो कवि हैं, कहानीकार हैं, लिखनेवाले हैं, विचारक हैं, चिंतक हैं, आप क्या करते हैं? जो मिलता है उसी को कुछ करते, उसी के साथ कुछ खेल करते, कुछ आगे बढ़ाते हैं, कुछ परिष्कार करते हैं, इधर से काटते-छाँटते हैं और आपका अहम होता है कि यह मैंने किया, यह मेरा कर्तृत्व है, यह मेरी कहानी है, यह मेरी कविता है, यह मेरा चिंतन है, यह मेरा शब्द है, कितना छोटा है। क्योंकि जो मिला है वह तो इतना विशाल और विशुद्ध है, उसमें आप कितना जोड़ सकते हैं—बहुत छोटा सा, यहाँ इतिहासकार बैठे हैं, सतीशचंद्र हैं, गोविंद चंद्र पांडे हैं। इतिहास क्या बताता है? इतिहास दो चीजें बताता है, कम-से-कम मुझे बताता है कि एक तो जो मिलता है वह इतना बड़ा है कि हम जिसे अपना कर्तृत्व कहते हैं वह वास्तव में कोई कल की बात है और वह भी बहुत जल्दी शायद भुला दिया जाएगा। पर दूसरी बात जो इससे भी गहरी है, जो बार-बार अपने को याद दिलाता है और दूसरों को भी, संस्कृतियों के इतिहासकार एक बात यह भी बताते हैं कि उनके इतिहास में पचासों साल कुछ बड़े नहीं होते हैं। मानव के जीवन में 50 साल बहुत होता है। उसी में हम बात करते हैं और उसी में हमारा अहम उससे मिला होता है। पर संस्कृतियों का इतिहास यह बताता है पचासों साल कुछ नहीं होता। जब पीछे जाते हैं तो पता लगता है, अरे, सौ साल इधर या सौ साल उधर। कुछ यह कहते हुए आदमी हिचकिचाता नहीं है पर सौ साल इधर या उधर बहुत होता है, उसमें कम-से-कम तीन पीढ़ियाँ गुजर जाती हैं, चार पीढ़ियाँ, उनके अहम का क्या हाल होगा। पर परंपरा के बारे में एक और बात मैं आपसे कहना चाहता हूँ। क्योंकि वह बात एक अर्थ में 3-4 रोज पहले कही गई थी।

मुकुंद ने कही थी जो आज यहाँ नहीं हैं। होता तो बड़ा अच्छा होता। मुकुंद ने एक बात कही थी और उसी बात को मैं कुछ भिन्न प्रकार से कह रहा हूँ आपके सामने कि परंपरा क्या होती है। जब हम पीछे जाते हैं, जो हमें मिलता है आज, उसके जब हम पीछे जाते हैं तो ऐसा लगता है कि यह अनादि है। क्योंकि और पीछे जाएँ, और पीछे जाएँ, और पीछे जाएँ तो कब रुकेंगे। भाषा कब बनी कौन बता सकता है। लेकिन हम मानते हैं बनी जरूर होगी, इसका आदि जरूर हुआ होगा। लेकिन उस आदि को हम पकड़ नहीं पाते, वह एक अनंत शृंखला बनती है और हम तक पहुँची है। हम जो आज हैं तो यह जो अनादित्व हर चीज का, मनुष्य की खोज का और उसके आगे जब देखते हैं, आगे पता नहीं, लोग पूछते हैं क्या होगा, नई शताब्दी हो रही है। हर आदमी यह कहता है आज के जवान बच्चों को क्या हो रहा है। क्या हो रहा है वे अपनी जवानी जी रहे हैं जैसे आपने जी थी। जब आप जी रहे थे तब जो आपसे बूढ़े लोग थे वह भी यही कह रहे थे। यह भी एक भ्रम है। लेकिन इस भ्रम में हम पड़े हुए हैं कि वे हमारे जैसे क्यों नहीं हैं। अरे, हमारे जैसे क्यों, अपने जैसे हैं। पर महत्त्व की बात यह है कि हम इस नई अनंत शृंखला में एक कड़ी हैं। मुकुंद ने इसको इस प्रकार से कहा था कि हम मध्य में हैं। कोई अनादि और अनंत चीज है जिसके मध्य में अपने को पाते हैं। तो परंपरा के मध्य में हम स्थित हैं और मध्य में स्थित होने का अर्थ क्या है, इस पर मुकुंद ने कहा था कि वह सारी एक पुरुणार्थ साधना है, वह भी एक अनंत साधना है। जो साधना हमको मिली है, जिस साधना के फलस्वरूप जो कुछ मनुष्य ने पाया है वह आपको परंपरा देती है और आप उस पुरुषार्थ साधना को अपनी साधना बनाते हैं। आप उसमें कुछ जोड़ते हैं, कुछ तराशते हैं, कुछ कम करते हैं, कुछ और पैदा करते हैं और फिर आप उसको छोड़ देते हैं, आप किताब लिखते हैं, कविता लिखते हैं, जो भी करते हैं फिर कोई और उसे पकड़ेगा, आगे बढ़ाएगा। परंपरा का मतलब है मध्य में होना, एक अनादि और अनंत की शृंखला के बीच में और उस मध्य में आपका जो उत्तरदायित्व है, आपकी जो क्षमता है उसको चुनौती है कि आप इसके साथ क्या करेंगे। इस अनादि और अनंत के बीच में जो हम लोग स्थित हैं उनका क्या उत्तरदायित्व है। आज

एक अजीब अवस्था है जो शायद संसार में पहले बहुत कम हुई हो। हम जो इस देश में रहते हैं, जो इस संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं उनके लिए वह परंपरा है ही नहीं, ऐसा लगता है उनकी चेतना को ग्रसित नहीं करती। खासतौर से जो उसकी बोधिक परंपराएँ हैं, चिंतन की परंपराएँ हैं, ठीक है कुछ त्यौहार आप मनाते हैं, कुछ भावबोध जो होता है, मुकुंद की बात मैं फिर उठाऊँगा कि बुद्धि में और भाव में एक भेद है। भाव बोध जो होता है उसकी भी एक परंपरा होती है, उसकी भी एक शैली होती है। वह भाव बोध हमको अपनी परंपरा से मिलता है। लेकिन बोधिक परंपराएँ अलग हैं और कर्म की परंपराएँ उससे भी अलग। कर्म पर चिंतन होता है, भाव पर चिंतन होता है और ज्ञान का जो पक्ष है, बुद्धि का जो पक्ष है, उसमें भी चिंतन की परंपराएँ होती हैं। परंतु भाव बोध आपको बालकपन में ही मिलता है और वही आपकी जो भावुक चेतना है उसको परिमार्जित करता है इसलिए वह आपके साथ अधिक रहती है। जैसे कविता का अनुवाद बहुत मुश्किल होता है लेकिन कोई दर्शन की बात हो उसका अनुवाद इतना कठिन नहीं होता। तो भाव बोध कहने की बात अन्य प्रकार से कही जा सकती है। लेकिन जो भाषा के साथ इस रूप में मिला हुआ होता है कि उसको अन्य भाषा में कहना बहुत कठिन होता है तो भाव का जो जल है, भाव का जो संसार है, भाव की जो सृष्टि है जिसमें हम लोग जीते हैं वह बहुत हद तक कुछ-कुछ परंपरा से जुड़ी होती है। पर बुद्धि का जो संसार है, जो वैभव है उसकी बात भिन्न है। आज अगर मैं कहूँ तो हमारे देश की जो अवस्था है उसमें जो बोधिक परंपराएँ थीं वह नष्ट हो चुकी हैं। उनका हमको पता ही नहीं है। इसलिए वह आपको लगता है कि, देखिए, मनुष्य की चेतना एक अजीब चीज है, जिसको अंग्रेजी में आइडिलिज्म कहते हैं—टेक्नीकली यह सब कुछ चेतना सापेक्ष है। यह सत्य हो या न हो लेकिन मनुष्य के जीवन के लिए सत्य है। जो चेतना में नहीं है, जिसका आपको पता नहीं है वह है ही नहीं। हो सकता है, लाइब्रेरी में है, म्यूजियम में है, कहीं भी हो, अगर आपकी चेतना का विषय नहीं है, आपकी चेतना में वह जागृत रूप से दीप्त नहीं है तो वह नहीं है। मैं जिस बात की ओर इन दो लेक्चर्स में आपको कहना चाहूँगा, वह चिंतन है, वह चिंतन की परंपराएँ हैं

जिनका क्षेत्र बुद्धि है और जिसके विषय अनेक हैं, जिसका विषय भाव भी है, कर्म भी है, और भी बहुत सारी चीजें हैं। कुछ-कुछ उनकी ओर इशारा करने की चेष्टा करूँगा। पर वह चुनने से पहले और चुनना बड़ा मुश्किल है कि किसको चुनूँ, किसको छोड़ूँ। क्योंकि ऐसा व्यापक संसार है यह जिसका हमको पता नहीं है। पिछले 15 साल के करीब से मैं इसकी खोज में मुड़ा था। क्या मुड़ा था, लगता है कुछ ऐसी शक्तियाँ थीं जिन्होंने ऐसी व्यवस्था बनाई कि मेरी चेतना को उस ओर मुड़ना पड़ा और धीरे-धीरे मेरी चेतना उसमें इतनी बँधती गई, बढ़ती गई कि आज कम-से-कम मेरी चेतना का एक अंश, एक आयाम वह सारी भारतीय चिंतन परंपराओं का इतिहास है जिसको जब मैं देखता हूँ, आश्चर्यचकित रह जाता हूँ। मुझे कुछ अफसोस भी होता है और कुछ एक अजीब सा लगता है कि इतना समृद्ध संसार चिंतन का उससे हम सब लोग नावाकिफ क्यों हैं? लेकिन इसके भी आगे बढ़ने से पहले मैं एक बात और कहना चाहूँगा। वह यह है कि हम पूछते हैं भारतीयता क्या है, हमारी पहचान क्या है। यह सवाल बहुत लोग पूछते हैं। अरे, सवाल का जवाब तो बीसियों तरफ से दिया जा सकता है, आदमी की चाल-ढाल होती है, पढ़ने का ढंग होता है। आप किसी विदेश में जाइए और आप सड़क पर चल रहे हों और कोई आदमी दूर जाता दिखाई देता है तो आप कहते हैं लगता तो हिंदुस्तानी है। कैसे लगता है? अरे, चाल से। आप सोचिए, चाल जैसी चीज उसमें परंपरा झलकती है, पहचान झलकती है और पहचान के अनेक तरीके होते हैं। लेकिन आखिर आदमी तो सब जगह आदमी हैं लेकिन फिर भी उसकी पहचान कैसे बनती है, चाल से ही नहीं, उसके बोलने के ढंग से, उसके जेस्चर से। लेकिन जैसे-जैसे आप अंदर जाते हैं, वहाँ चेतना की जो विधा होती है, सोचने का जो ढंग होता है, जो प्रश्न होते हैं और जो समस्याएँ होती हैं, जो बिब का संसार होता है जिससे आप सोचते हैं वह सब उसका अपना एक अनूठापन होता है। आप सोचिए कि जो प्रत्ययों का जाल है जिससे आप अनुभव को पकड़ते हैं, पकड़ते ही नहीं बल्कि उसको रूप देते हैं और जो अरूप है उसको रूप कैसे दिया जाता है वह भाषा से दिया जाता है, वह प्रश्न से दिया जाता है, समस्या से दिया जाता है और उसकी परंपरा बनती है।

अगर आप पहचान जानना चाहते हैं, एक बड़ा अजीब दिल्ली का शहर है, इस दिल्ली के शहर में एक दफा, वह जमाना थोड़ा गुजर गया, लेकिन बोलने का तरीका होता था, शोकिए तहरीर होती थी। गालिब का शेर है—तहरीरे शोकी, शोकी लफ्ज भी क्या चीज है। गालिब का एक शेर मुझे याद आता है। उसका कैसे संबंध है—कागजी है पहरन, हर शोकिए तहरीर का। फ्रिजाइल ब्रिटल इज द एंबाडीमेंट ऑफ आल थॉट, आल द एंबोडीमेंट ऑफ देट विच इज बॉडीलेस। जो अरूप है उसका जो भी रूप होगा, जो भी शरीर होगा, उसकी वाणी में, जो भाषा में अभिव्यक्त करेगी वह सब कागजी है, नष्ट होनेवाली है, थोड़े दिन रहेगा चला जाएगा। पर वह चीज तो कुछ है जो बार-बार अभिव्यक्त होती है। तो अगर आपको हिंदुस्तानी पहचान जाननी है तो कई जगह जाननी पड़ेगी, भाव में, कर्म में, लेकिन बुद्धि के क्षेत्र में जाननी पड़ेगी। आप कहते हैं यह शोकिए तहरीर गालिब में नहीं है, गीता में है। कृष्ण से पूछते हैं—स्थितप्रज्ञ की भाषा समाधिस्थ किम आसीत रजित किम। कैसी बेवकूफी का सवाल है लेकिन वह सवाल हम सब करते हैं—किम आसीत, रजित किम, कैसे बैठता है, कैसे चलता है। हम संस्कृतियों के बारे में पूछते हैं, कैसे चलती है, कैसे बैठती है, बाहर की चीज देखते हैं लेकिन जवाब क्या होता है, अंदर से अगर संस्कृति को जानना है तो उनके अंदर बैठिए, देखिए कि चेतना की विधा क्या है। कृष्ण का जो उत्तर है उस पर थोड़ा विचार करना चाहिए। बाहर की चीज से उत्तर नहीं मिलता, अंदर बैठिए। अंदर कैसे बैठेंगे? कितने अंदर हैं? एक अंदर नहीं होता, ऐसे ही जैसे मनुष्य के बीच अनेक अंदर होते हैं ऐसे ही संस्कृतियों के बीच अनेक अंदर होते हैं। देखिए, जब मनुष्य के बारे में सोचना शुरू हुआ, शुरू से शुरू होता रहा है। आपके यहाँ क्या बताया कि मनुष्य क्या है? एक उसका अन्नमय कोष है, शरीर है, अन्न से चलता है, अन्न क्या देता है—एक अनंत क्षुधा। एक इनफ्रिंट हंगर। सुबह उठते हैं, चाय पीते हैं, ब्रेकफास्ट करते हैं, फिर लंच खाते हैं, फिर यह करते हैं, वह करते हैं—अनंत क्षुधा। फिर क्या है प्राण, जिजीविषा, जीने की इच्छा, कैसी अजीब चीज है। हरेक आदमी यह चाहता है वह ऐसे ही जीता रहे जैसे वह जीता है। हालाँकि वह इस जीने की अव्यर्थता-व्यर्थता को जानता

है। इससे बड़ी कोई चीज नहीं हो सकती, आप जानते हैं, आप चाहे कितने ही बड़े लेखक हों, चिंतक हों, वैज्ञानिक हों, इतिहासकार हों, कुछ भी हों, सारी शक्ति भी आपके पास है, आप जानते हैं यह सब कुछ नहीं है, फिर भी आप जीना चाहते हैं। इसके बाद, प्राणमय कोष के बाद आप सोचिए किसकी बात कही गई। मनोमय कोष। इच्छाओं का अनंत संसार, सपनों का संसार, जिसमें हम जीते हैं। तो यह मनोमय कोष है। यह मन क्या है, बुद्धि को समझ सकते हैं, शरीर को, प्राण को समझ सकते हैं लेकिन मन को समझना बड़ा मुश्किल है। मैं मन की परिभाषा सोचता रहा हूँ, वह दी गई हमारी परंपरा, पर मुझे सब बेकार लगती है, मन है ही क्या? मनसिज, मन से ही काम उत्पन्न होता है, मन से इच्छा उत्पन्न होती है। इससे एक संसार रचा जाता है। इसके बाद हो सकती है लेकिन करने की जरूरत नहीं है। उसके बद विज्ञान में बुद्धि का क्षेत्र है। उसके बाद कुछ और है। लेकिन यह मानने की जरूरत नहीं है कि 5 ही कोष होते हैं। अंदर बहुत ही दरवाजे होते हैं, आँगन के पार द्वार-ही-द्वार है। एक द्वार नहीं है। यह जो द्वार का खोलना है, यह परंपरा में बैठना है, कैसे करें? आइए, मेरे साथ थोड़ा भ्रमण करें, आपको मजा आएगा, मुझे भी मजा आएगा। थोड़ी देर के लिए इस जगह में चलिए। चिंतन के विषय, चिंतन की विधाएँ और चिंतन की संस्थाएँ। संस्था कहना जरूरी था क्योंकि संस्था के बगैर ये विधाएँ, विषय या चिंतन चलते नहीं हैं। आपको आश्चर्य होना चाहिए। आज पश्चिम में जिस तरह हमारा इतिहास लिखा है और जो हमें अपने को देखने की एक तस्वीर दी है, वह इतनी गलत है कि मुझे आश्चर्य होता है और मैं समझता हूँ कि बाद में आनेवाले लोग आश्चर्य करेंगे कि इतने अक्लमंद लोग कैसे इस सबको बार-बार दोहराते रहे हैं, बार-बार विश्वास करते रहे। देखिए, संस्थाओं की बात मैं करूँगा नहीं लेकिन इशारा जरूर करना चाहूँगा कि आपने कभी यह सोचा है कि आपका जो कम-से-कम ढाई-तीन हजार साल का लिखित इतिहास है वह कैसे चला है? या कैसे हुआ है। आपके यहाँ का कोई कश्मीर में लिखता है और वह जो लिखता है वह केरल में उस पर लोग लिखते हैं। आखिर आपके यहाँ क्या सिस्टम था, कैसे चीज दूसरी जगह पहुँचती थी, इस सारे विशाल देश में आप

सोचिए बंगाल में, मिथिला में 500 साल तक नवोनय का इतिहास मिलता है। उन लोगों को कौन पालता था, कौन-सा सिस्टम था, क्या व्यवस्था थी कि गाँव-गाँव में लोग लिख रहे हैं और ऐसा बड़ा-बड़ा लिख रहे हैं जो कि आपके शहरों में नहीं लिखा जाता और 500 साल तक, उस जमाने में एक हजार के बाद कम-से-कम 1200 से, आपके यहाँ अद्वैत, जो अद्वैत का खंडन हुआ उसमें कम-से-कम सतत परंपरा रही है, लोगों को कौन पालता था। तो व्यवस्था का एक ऐसा कुछ तंत्र था जिससे बोधिक जगत, भाव जगत, कर्म जगत पलता था। सोचिए, जयदेव 'गीत गोविंद' लिखते हैं 12वीं शताब्दी से कुछ पहले या उसके आसपास और एकदम वह सारे भारत में फैल जाता है। कैसे फैला? इस बात की ओर हम ध्यान नहीं देते कि चिंतन की परंपराएँ, विधाएँ, फैलाने की संस्थाएँ भी होनी चाहिए और वह संस्थाएँ जिन्होंने 3 हजार साल तक काम किया वह नष्ट होती जा रही हैं। आज भी अगर कुछ रखा जा रहा है तो वह गवर्नमेंट की तरफ से नहीं रखा जा रहा है, गवर्नमेंट की संस्थाएँ फेल हो चुकी हैं, सबको पता है, युनिवर्सिटी का हाल सबको पता है, तो संस्थाओं की बात करना गलत नहीं है—पर विषय और विधाएँ? देखिए, इनको कई प्रकार से बाँटा जा सकता है। तत्त्व चिंतन, तत्त्व क्या है? पदार्थ चिंतन, पुरुषार्थ चिंतन, कर्म चिंतन, भाव चिंतन और राज्य और समाज के बारे में चिंतन, व्यवहार कानून, व्यवहार के बारे में चिंतन, इन सब क्षेत्रों में, साहित्य, अलंकार शास्त्र इस पर चिंतन। इन पर चिंतन की परंपराएँ हमारे यहाँ कम-से-कम ढाई हजार साल पुरानी तो है ही, फिर इनमें प्रत्यय में क्या-क्या प्रत्यय हैं? क्या-क्या प्रत्यय जाल बनाया गया है, इसका मैं आपको थोड़ा सा परिचय देना चाहूँगा और यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि इन सब में ऐसी विशुद्ध व्यापक सँभावनाएँ हैं जो आपमें से हरेक अगर जरा भी कोशिश करे तो उनको आज के परिप्रेक्ष्य में नई दिशाओं में ले जा सकता है, उसका बीज वहाँ है। हमारे यहाँ वह दिशाएँ हैं जो नहीं ली गई हैं और जो ली जा सकती थीं। जिनके बारे में अफसोस करना चाहिए कि नहीं ली गई लेकिन यह ऐतिहासिक, जो बुद्धि का इतिहास लिखना चाहता है, उसके लिए यह समस्या है कि क्या दशा नहीं ली गई। क्यों नहीं ली गई और जो दिशा ली गई उसने

क्या रूप लिया? तो क्या यह जो अरूप को रूप दने की चेष्टा है, जो बुद्धि ने प्रत्यय जाल फैलाया है, जो कल्पना ने दिव्य जाल फैलाया है, जो भावना के जगत की रचना की गई है तो आइए, कुछ उसको थोड़ा देखें। शुरू करना मुश्किल है, लेकिन कहीं से शुरू करिए।

मैं भाषा और अर्थ के संबंध से प्रारंभ करता हूँ। भारतीय चिंतन इस बात से शुरू करता है कि भाषा क्या बला है। भाषा के बराबर अजीब चीज दुनिया में कोई नहीं है क्योंकि यह कोई नैसर्गिक चीज नहीं है। देखिए, संसार में क्या भाषा कोई वस्तु है जो मिलती है, जो आपको कहीं पड़ी हुई मिलती है? भाषा का अगर आप अर्थ नहीं जानते तो वह कुछ है ही नहीं, वह केवल एक आकार मात्र है, कुछ लकीरें हैं, कुछ गोल हैं लेकिन उसका कुछ अर्थ नहीं है, बेकार है और जैसे ही उसमें आपको अर्थ मिलता है वह एकदम जागरूक हो जाती है और अर्थ भी कैसे? क्या आपने कभी सोचा है अर्थ की एक अन्तता है कि अर्थ आप उसी कविता की लाइन को बार-बार दोहराते हैं, आप उन्हीं चीजों पर भाष्य लिखते हैं, आप उन्हीं चीजों को समझने की कोशिश करते हैं, आपके यहाँ परंपरा है कि आप संस्कृत ग्रंथ पर भाष्य लिखते हैं, फिर वार्तिकी लिखते हैं, फिर टीका लिखते हैं, फिर रति लिखते हैं, पता नहीं क्या-क्या, यह चलता रहता है। लोग कहते हैं यह दकियानूसी बात है। वास्तव में यह दकियानूसी बात नहीं है क्योंकि चिंतन का यही तरीका है कि आप बार-बार उससे बातचीत करते हैं, वार्तालाप करते हैं, पूछते हैं, नए प्रश्न पूछते हैं, वह नया उत्तर देता है। जितना बड़ा ग्रंथ होता उतना ही उसका यह महत्त्व है। आप शेक्सपीयर की बात करते हैं। आप शेक्सपीयर क्रिटिक्स को पढ़िए। जब भी एक क्रिटिक को पढ़ेंगे वह आपको कहेगा, हाँ, ऐसे देखो। शेक्सपीयर की ट्रेजेडी को ऐसे समझो। दूसरे को पढ़ेंगे तो वह एक नई बात पैदा करता है, नई दृष्टि देगा, नई समझ देगा, यही हमारे यहाँ बार-बार हुआ है। भाष्य जब लिखा गया, ऐसे समझो, फिर दूसरा आया, उसने उस पर वार्तिकी लिखा, उसने कहा ऐसा समझो, तीसरे ने कहा नहीं, ऐसे नहीं समझना है और इस समझने से चीज बढ़ रही है। इस समझने में नई दिशाएँ खुल रही हैं और आप और हम देखते

ही नहीं हैं, अंधे हैं, अंधे विधि माना यतिंदा। मुझे शिकायत है, शिकायत दोस्ती से है। आप देखते क्यों नहीं हैं। आप क्यों उसी बात को दोहराते जा रहे हैं? जरा भी आप आँख खोलकर ग्रंथ को देखें, किसी पन्ने को पलटिए, अगर आपके सामने कोई नई रोशनी न पैदा हो जाए तो मैं शर्त लगाता हूँ हारने की। मैं खुद संस्कृत बहुत अच्छी नहीं जानता, जानता ही नहीं हूँ, आम जानता हूँ, लेकिन मैं इतना जरूर ईमानदारी के साथ कह सकता हूँ कि जब भी मैंने पन्ना पलटा है और मुझे कुछ मिला है। ऐसी चीज मिली है जो उस पन्ने को पलटने से मिलती है। पलटता नहीं तो शायद नहीं मिलती। फिर जो लोग पन्ने पलटते हैं उनको क्यों नहीं दिखता। मैं आपको कुछ उदाहरण देता हूँ। एक उदाहरण है। देखिए, न्याय पर, न्याय सूत्र में प्रथम सूत्र है। वह कहता है : पदार्थानाम् तत्त्वज्ञाना निश्रेयस अधिगम। आप लोग संस्कृत नहीं जानते, कोई बात नहीं है, मैं भी नहीं जानता। लेकिन आसान चीज है। पदार्थ के तत्त्व ज्ञान से निश्रेयस का अधिगम प्राप्त हुआ है। पदार्थ उन्होंने गिनाए हुए हैं, उनकी बहुत करने की जरूरत है। यहाँ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निश्रेयस की प्राप्ति होती है। पदार्थ अनेक हैं, विधाएँ अनेक हैं तो आप देखिए उद्योतकर अपनी वर्तिकी में लिखता है। अब प्रश्न बड़ा अजीब सा उपस्थित होता है, एक स्वयं ट्रेडीशनल उपस्थित होता है, आपकी परंपरा में उपस्थित होता है, परंपरा में प्रश्न ही उपस्थित होते रहते हैं। वात्स्यायन स्वयं अपने भाग्य में यह कहते हैं कि पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से निश्रेयस होगा, निश्रेयस से ऐसा नहीं होगा। क्या पदार्थों के तत्त्वज्ञान से होगा, एक से होगा, किससे होगा? लेकिन इस पर आप देखिए, जो वार्तिकार हैं उद्योतकर, वह कहते हैं हर विधा का अपना अलग निश्रेयस होता है, अपना अलग तत्त्वज्ञान होता है। आप जरा सोचिए, हर विधा का निश्रेयस होता है, कोई विधा ऐसी नहीं हो सकती जिसका कोई एक आदर्श प्रायोजन न हो, जिसका अपना कोई पुरुषार्थ न हो। तो पहला प्रश्न यह पूछिए कि इस विधा का पुरुषार्थ क्या है और वह उदाहरण देते हैं। एक इकोनोमिस्ट हैं, अर्थशास्त्र हैं उसको वार्ता कहते थे उन दिनों। वार्ता का प्रयोजन क्या है, उसका निश्रेयस क्या है, धन लाभ। धन नीति, साइंस ऑफ

पालिटिक्स। इसका क्या है—पृथ्वी जय। सोवरेनिटी ऑवर द वर्ल्ड। यह निश्रेयस है उसका। उसके अनुसार मीमांसा का उदाहरण देते हैं। इसका निश्रेयस क्या है, स्वर्ग प्राप्ति। केवल आत्म विद्या का निश्रेयस मोक्ष है, अन्य विधाओं का नहीं। फिर यह हमें एक रास्ता दिखाता है जो रास्ता लिया नहीं गया परंपरा में कि हम यह पूछें कि हरेक विधा का निश्रेयस क्या होता है? हमारे लिए मार्ग है। हम पूछें इस विधा का निश्रेयस क्या होता है, उसको अंग्रेजी में कहेंगे—देयर इज द एमीनेंट आइडियल वैल्यू इंपलीसिट इन आल फील्डस ऑफ नालिज, बाई वर्च्यू ऑफ हिज देयर डिफाइन देयर फील्ड्स। कोई ऐसा ज्ञान का क्षेत्र नहीं हो सकता जो मूल्य निरपेक्ष है। मूल्य शब्द मुझे पसंद नहीं है। लेकिन इसके अलावा कोई दूसरा शब्द मिलता नहीं है। हालाँकि संस्कृत पर अपने को अर्थ क्या है, इसका निहित पुरुषार्थ क्या है? क्योंकि उस पर जो निहित अर्थ है, उसमें जो निहित श्रेय है वह मनुष्य के कर्म के द्वारा, देखिए, उस ज्ञान के क्षेत्र का जो आदर्श मूल्य उसमें निहित है उसकी क्रियान्विती मनुष्य के पुरुषार्थ के द्वारा होगी तो ज्ञान का कर्म से संबंध आदर्श के माध्यम से किया गया है। अब क्या यह आज के लिए हमारे लिए कोई रास्ता नहीं दिखता? अगर आपके जो पुरुषार्थ मूल्य हैं, श्रेय हैं, आदर्श हैं, जो भी हैं वह हर विद्या से संबंधित होने चाहिए, विद्या का अपना एक निश्रेयस होगा और दूसरे विधाओं के निश्रेयस से उसके संबंध की बात होगी। अब देखिए, खुद वात्स्यायन न्याय में कहते हैं कि यह सारी विधाओं का प्रदीप है। जो तर्क ज्ञान है, जो तर्क बुद्धि का ज्ञान है वह सारी विधाओं को आलोकित करता है। क्या इसमें इस बात की स्पष्ट झलक नहीं है कि ज्ञान के स्तर होते हैं और उसको हम आजकल मैटाथ्यौरी कहते हैं, मैटा नालिज कहते हैं कि जो तर्क शास्त्र का ज्ञान है, जो रिलीजन के बारे में चर्चा है, वह वास्तव में एक सैकिंड लैवल है, वह एक दूसरे स्तर की चर्चा है क्योंकि वह प्रथम स्तर के सब ज्ञानों के लिए सार्थक होती है। पर आइए, थोड़ा कुछ और देखें। भाषा के बारे में एक प्रश्न उठाया गया है वह इतना अजीब है कि जहाँ तक मैं जानता हूँ पश्चिम की परंपरा में नहीं उठाया गया। आप जिसे भाषा कहते हैं वह है क्या?

स्वर है, व्यंजन है, शब्द है, वर्ण है, अक्षर है, वाक्य है? हम वाक्य किसको कहते हैं? शब्दों के उस समूह को जो एक अर्थ को अभिव्यक्त करता है। जरा सोचिए, एक मिनट के लिए, एक अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाले अनेक शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं। एक ओर अनेक का संबंध, यह अजीब है। लेकिन एक शब्द और दूसरे शब्द में भेद कैसे करेंगे, वहाँ कुछ रिक्त स्थान होना चाहिए और रिक्त स्थान है फिर भी संबंध स्थापित होगा और वह संबंध किसी एक से होता है जो अर्थ उन सबमें उद्भाषित होता है, अगर दो वाक्य हों तो फिर क्या होता है, एक वााक्य का दूसरे वाक्य से संबंध कैसे स्थपित होता है—उन देनों में मिलकर कौन सा अर्थ उद्भाषित होता है, वह भी कोई एक अर्थ है। अब आप सोचिए, पहले वाक्य में भी एक अर्थ था, दूसरे वाक्य में भी एक अर्थ है, तो दोनों मिलकर फिर एक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। फिर तीसरा वाक्य-दर-वाक्य, कितने वाक्यों से यह पुस्तक बनती है, वह पुस्तक क्या अभिव्यक्त करती है? हम पूछते हैं इसमें क्या लिखा है। अरे भाई, इसमें तो इतने सारे वाक्य हैं और हम पूछते हैं इसमें क्या लिखा है, मतलब क्या है असली बात बताओ। वह असली बात क्या है? आप सोचिए, हमारे यहाँ भेद-अभेद के संबंध को लेकर सदियों-दर-सदियों का एक चिंतन हुआ है, झगड़ा हुआ है लेकिन यह भाषा के मूल में हमको पता लगता है कि भाषा एक ऐसी अजीब चीज है जहाँ कोई चीज जो अभिव्यक्त होती है, एक, वह अनेक के द्वारा अभिव्यक्त होती है और अनेक का अर्थ ही यह है उसको अभिव्यक्त करे। देखिए, आगे जो अर्थ अभिव्यक्त होता है वह क्या है? फिर आपके यहाँ एक अजीब भेद किया गया जो पश्चिमी परंपरा में कभी हुआ ही नहीं, सोचा भी नहीं गया। लेकिन सोचा जा सकता है आज भी। आपके यहाँ का जो अभिव्यक्त अर्थ है वह अनेक अर्थ किसी और को अभिव्यक्त करने की कोशिश कर रहे हैं। अगर आप कहते हैं, लिखते हैं, आपके मन में कोई विचार आता है, आपके मन में कोई इंट्यूशन होती है, कुछ कहने को है, क्या कहने को है अभी स्पष्ट नहीं है तो आप लिखने बैठते हैं, लिखते जाते हैं और वह कुछ स्पष्ट होता है, कभी-कभी नई

दिशाएँ लेता है। लेकिन क्या अभिव्यक्त होना चाहता है? आप जब उसको बंद करते हैं—लेख को, कहानी को, कविता को तब आप सोचते हैं अब कह दिया, वह अभिव्यक्त हो गया, लेकिन वह तो अभिव्यक्त नहीं हुआ, क्योंकि आप घर लौटते हैं। आपने कभी सोचा है कि हम दोस्तों से मिलते हैं, बैठते हैं, बात करते हैं। जब मिलते हैं थोड़ी देर में कुछ चीज उत्पन्न होती है, कोई नई चीज पैदा होती है बातचीत में, थोड़ी देर बाद हमारा मन थक जाता है। अब लगता है कुछ कहने को नहीं है। अब हम वही दोहराएँगे जो अभी तक कह रहे थे और हम थोड़ा चुप हो जाते हैं, कुछ और बात करने लगते हैं, चलिए कॉफी पीएँ, चलो कुछ और करें। लेकिन क्या जो कुछ कहने को था वह चुक गया? ऐसा नहीं हुआ है। थोड़ी देर बाद, दूसरे दिन, कुछ महीने बाद फिर विचार उत्पन्न होता है फिर उस आदमी के साथ बातचीत होती है, फिर वही उल्लास, वही आकर्षण, वही अचंभा, वही आश्चर्य और आप फिर कह रहे हैं, कहाँ लुप्त हो गया, क्यों थक गए थे, कहाँ से फिर आया, आपको पता नहीं है, हमको पता ही नहीं है कि हमारी चेतना में चीजें कहाँ से आती हैं और कहाँ चली चली जाती हैं। पर यही संस्कृति लंबे इतिहास की कथा है कि वह जो एक है इसी को आपके यहाँ भर्तृहरि ने कहा कि—परा पश्यन्ति मध्यमा वैशरी—भाषा के चार स्तर होते हैं। एक तो जो दिखनेवाला है, एक जो उसके पीछे है, कुछ पर्दे के पीछे है, कुछ अभिव्यक्त हो रहा है, होना चाहता है, लेकिन उसके भी पीछे अवस्थाएँ हैं जिनको पकड़ना बड़ा मुश्किल है। क्या विचार में भी यह बात नहीं है? अगर यह बात काव्य में है, अगर यह बात साहित्य में है तो यह बात विचार में भी है कि विचार एक अनंत खोज है, शृंखला है, पर विचार का रूप कैसा है, विचार का रूप बनता कैसे है, बुद्धि का रूप क्या है, बुद्धि प्रश्न करती है। आपकी जो परंपरा है उसके प्रश्न क्या हैं। आपकी परंपरा का वैशिष्ट उन प्रश्नों से है, उन समस्याओं से है जिससे वह जूझी है, जिसने उनको प्रश्न के रूप में महसूस किया है, जिसने यह देखा है कि यह समस्या है। क्या समस्याएँ हैं? प्रश्न अनेक हैं, समस्याएँ अनेक हैं मगर मैं कुछ की ओर आपको ले जाना चाहता हूँ। एक

समस्या थी, अभी मुकुंद से बात हो रही थी साहित्य क्या होता है। अभी हमने पदार्थ और तत्त्व चिंतन और पदार्थ चिंतन की बात की और पुरुषार्थ चिंतन की बात की और भाव चिंतन की बात की। दूसरे क्षेत्रों की बात की, कुछ की बात कर कल करेंगे कर्म के बारे में, भाव के बारे में। प्रश्न, अभी साहित्य के अंदर मुकुंद की मैंने चर्चा की है। वेद में मंत्र होता है। देखिए, मंत्र क्या है? मंत्र का कोई अर्थ होने की आवश्यकता नहीं है। मंत्र में जो शब्दानुकर्मी है, स्वरानुकर्मी है, वर्णानुकर्मी है वही प्राधान्य है। मंत्र वह है जिसको दूसरे किसी प्रकार से कहा ही नहीं जा सकता। आपके यहाँ यह कहा गया है मंत्र का कोई लक्षण दिया नहीं जा सकता। लेकिन फिर भी अगर आप पूछें कि मंत्र क्या है तो एक उसका लक्षय यह है कि उसकी जो स्वरानुकर्मी है, वर्णानुकर्मी है, शब्दानुकर्मी है उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। अगर वह नहीं हो सकता तो यह प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता कि इसका अर्थ क्या है। क्योंकि अर्थ देने के लिए आप कोई अन्य शब्द का प्रयोग करेंगे, आप उसका अनुवाद करेंगे, रूपांतरित करेंगे, कुछ तो करेंगे तो बदलेंगे आप। जो अनुकर्मी है उसको बदलेंगे और जैसे ही बदलेंगे वह मंत्र नहीं रहेगा। एक इसलिए मंत्र होता है, दूसरा जैसे दर्शन है। उसमें क्या कहा? आप उसको दुबारा कहते हैं, दूसरी भाषा में कहते हैं, अनुवाद करते हैं। यहाँ स्वर का, वर्ण का, शब्द का प्राधान्य नहीं है, वह बदला जा सकता है, कई तरह से कहा जा सकता है। साहित्य क्या है? जिसमें दोनों है। वहाँ अर्थ और शब्द, अर्थ और स्वर, अर्थ और वर्ण इस प्रकार बँधे हुए हैं कि अर्थ तो है, अर्थ के बगैर साहित्य नहीं हो सकता लेकिन वह उन्हीं स्वरों, शब्दों के साथ, उन्हीं के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। ऐसा है जैसे भगवान यह कहते हैं कि इसी रूप में अभिव्यक्त हो सकता हूँ, कृष्ण का रूप है, राम का रूप है लेकिन अगर आप भक्त हैं तो आप कहते हैं हमारा सिर तो तब झुकेगा जब आप धनुषबाण लेंगे। तुलसीदास जी का प्रकरण है—तुलसी मस्तक तब धनुषबाण। कहने का मतलब यह है कि यहाँ जो विशिष्ट रूप है वह अर्थ और शब्द ऐसे जुड़े हुए हैं जैसे साहित्य है तो पहली समस्या, जो आपकी उठी है उससे भी अलग

समस्याएँ हैं, यह है कि क्या जिसका अनुवाद नहीं हो सकता वह अर्थहीन है? दूसरा कि भाषा में, कोई भाषा संज्ञा के बगैर नहीं हो सकती, क्रिया के बगैर नहीं हो सकती तो अर्थ कहाँ से आता है, संज्ञा से आता है, क्रिया से आता है? अगर क्रिया को माने आप प्रधान अर्थ में तो संज्ञा आनुषंगिक हो जाती है और अगर संज्ञा को प्रधान मानें तो क्रिया की जरूरत नहीं है या दोनों प्रधान हैं। यह भी एक ऐसा प्रश्न है जो भाषा के बारे में उठा है और भाषा की चर्चा हमारे यहाँ अनंत है लेकिन एक और प्रश्न की ओर मैं इशारा करना चाहूँगा कि तत्त्व चिंतन और पदार्थ चिंतन, पदार्थ शब्द का प्रयोग जो लोग जानते हैं उनको पता है कि पदार्थ के दो तरफ के अर्थ होते हैं, एक तरफ पद का अर्थ, यानी भाषा में जो अभिव्यक्त होता है वह अर्थ, तो अर्थों के प्रकार क्या हैं? जब हम तत्त्व की बात करते हैं तो उन वस्तुओं की बात करते हैं जो हमारे ज्ञान के विषय हैं, जो हमारी बुद्धि के विषय बनते हैं। तो तत्त्व चिंतन और पदार्थ चिंतन का जो मेल है इस परंपरा में वह इस बात को इंगित करता है कि वास्तव में जो संसार है, जो ज्ञेय है, जो ज्ञान का विषय है वह हमारी जो भाषा है, हमारे पास जो जानने के साधन हैं वह, वह चाहे इंद्रियाँ हों, चाहे बुद्धि हो, चाहे और कुछ हो वह उससे पकड़े जा सकते हैं। इसलिए एक प्रकार से पदार्थ और तत्त्व दोनों को जोड़ा गया है लेकिन इसके बारे में आप शक कर सकते हैं, आप बहस कर सकते हैं कि ठीक है या नहीं लेकिन मैं ऐसा समझता हूँ इसने बहुत सारी ऐसी समस्याओं को जन्म दिया है जो वास्तव में ठीक नहीं है। लेकिन समझना चाहिए कि परंपरा जैसे आगे बढ़ती है उसकी बहुत सारी समस्याएँ इसलिए भी उत्पन्न होती हैं कि उसने जिस प्रकार से अपनी समस्या को रखा, देखा, अगर हम भाषा और तत्त्व चिंतन की बात थोड़ी छोड़ें तो जो दूसरे क्षेत्र हैं हमारे यहाँ ज्ञान का, वह यह है कि सब कुछ जो हम जानते हैं वह विषय रूप में उपस्थित होता है। यह जो विषय रूप में उपस्थित होता है इसका विषय क्या है? यह आप कहेंगे दर्शन की बात है। लेकिन यह केवल दर्शन की बात नहीं है। विषय के दो संबंध होते हैं—एक विषय का उस चेतना से संबंध जिसका वह विषय है, दूसरा विषय का संबंध उस

प्रक्रिया से है, उस ज्ञान की प्रक्रिया से जिससे आप उस विषय को जानने की चेष्टा करते हैं, तीसरा विषय का संबंध अन्य विषयों से है उनसे भेद है और उनसे संबंध क्या है, चौथा इसी विषय का संबंध आपसे इस तरह से है कि वह आपमें किस भाव की उत्पत्ति करता है और किस कर्म की ओर प्रेरणा देता है तो जो विषय है उसके यह सब आयाम हैं, इस सब आयामों को लेकर हम बहुत दूर जा सकते हैं। आखिर देखिए, जो जीवंत प्राणी है वह उस रूप में विषय नहीं है जिस रूप में कोई जड़ चीज है। आपके घर में अगर कोई कुत्ता, बिल्ली है तो उससे आपका संबंध बिलकुल अलग है। हालाँकि उस फूल से भी हमारा संबंध होता है जिसको हम गमले में रखते हैं। अगर गमले में नहीं भी रखते हैं, अपने बगीचे में हमने उगाया है तो उससे भी हमारा एक संबंध होता है। लेकिन उस फूल से जो संबंध होता है और उस बिल्ली से या कुत्ते से जो संबंध होता है उसमें एक मूलभूत अंतर है। यह अंतर हमारी चेतना से भी संबंधित है और उससे भी संबंधित है जिसके बारे में हम बात कर रहे हैं। जब मनुष्य की बात करते हैं, मनुष्य का उसी रूप में विषय है जिस रूप में आपके घर का कुत्ता और बिल्ली है या वह फूल है जो आपके बाग में खिला है या आसमान में वह चाँद या तारा है जिसकी तरफ आप देखते हैं। देखिए, फर्क क्या है। चाँद को देखकर भी आपके मन में आह्लाद, पता नहीं क्या-क्या होता है, किस-किस की याद आती है। चाँद की एक अजीब बात है कि उसको देखकर हमेशा किसी-न-किसी की याद आती है। फूल को देखकर याद आती नहीं कहना मुश्किल है, हमेशा नहीं आती, बहुत कम आती है। कुत्ता-बिल्ली के साथ तो आती नहीं हैं, कभी भी नहीं आती। लेकिन जो अन्य व्यक्ति है, कहने का अर्थ यह है इनमें जो विषयभेद है, उसकी और आप क्या ध्यान देते हैं, क्या आज का जो वैज्ञानिक है वह जब किसी चीज को विषय रूप में, ज्ञान का विषय मानता है तो वह उनमें भेद ही नहीं देखता उनके भेद को निराधार मानता है, आगंतुक मानता है, वैयक्तिक मानता है, पर यह भूल है। इससे बड़ी ज्ञान के क्षेत्र में भूल हो ही नहीं सकती। हम विषयों के जो आपस में भेद हैं और उनसे जो हमारे संबंध हैं

उनको बिलकुल भुला दें। पर यह जो भेद है इसका कर्म और भावना से संबंध क्या है, हम जो ज्ञान की जगत की रचना करते हैं उसका जो हमारे भाव जगत की रचना है उससे क्या संबंध है। आप देखिए, मैं कल कुछ इस पर अधिक चर्चा करूँगा कि ज्ञान का जगत, कर्म का जगत और भाव के जगत में हमारे यहाँ क्या चिंतन हुआ है और इन तीनों में क्या संबंध बैठाने की चेष्टा की गई है और इन सब का पुरुषार्थ चिंतन क्या है और उस पुरुषार्थ चिंतन का उन पाँच पुरुषों से क्या संबंध है जिसको हमने कहा था कि अन्नमय है, प्राणमय है, एक मनोमय है, एक विज्ञानमय है और एक अनंतमय है और नए आयाम और नई दिशाओं में कुछ कल मैं यह भी करने की कोशिश करूँगा कि आज का जो परिप्रेक्ष्य है आज जो पश्चिम का प्रत्यय जाल है जिसमें वह मनुष्य को सब विषयों को पकड़ने की चेष्टा करता है उससे वह किस प्रकार भिन्न है और कम-से-कम मनुष्य के बारे में, प्राणी जगत के बारे में, भाव जगत के बारे में, राज्य के बारे में, समाज के बारे में वह हमको नई दिशाएँ दे सकता है। उसका समृद्ध अनंत भंडार जो हमारे पास है उसका हम लोगों को प्रयोग करना चाहिए। मैं आपको आह्वान करता हूँ, निमंत्रण करता है इसके बारे में कल हम कुछ अधिक चर्चा करेंगे। थैंक यू।

अध्यक्ष : हमने बहुत ही उत्सुकता से और बहुत ही लगन के साथ, जो बातें कही दया जी ने, उन्हें सुना। एक तरह से काव्यात्मक परिवेश रहा समूचे भाषण का। मैं समझता हूँ कि लेखकों के लिए वह उतना ही हृदयग्राही रहा होगा जितना कि फिलास्फर्स के लिए, दार्शनिकों के लिए। भाषा की बात कही दया जी ने, बहुत सुंदर बातें की कि हम जिस भाषा में लिखते हैं, सोचते हैं, अपने संबंध बनाते हैं, अनायास रूप से ही हम अपने को एक बहुत प्राचीन परंपरा से, उस भाषा के माध्यम से जोड़ लेते हैं। मैं समझता हूँ कि साहित्य में एक साहित्यकार या साहित्यकर्मी को इससे बहुत गहरा अर्थ मिलता है। परंपरा की बात कोई अलग से नहीं है कि हम कितना उससे अलग हैं, कितना जुड़े हैं, लिखना, कहना, बोलना, जीना खुद एक परंपरा प्रवाह में अपने को सहज रूप से बताना है। केवल प्रश्न यह है कि हम इस चीज हो

सजग रूप से कभी अपने भीतर परिभाषित कर पाते हैं? शायद मेरे ख्याल में यही एक लेखक का और दार्शनिक की समस्या रहती है कि जो चीजें उसे मिली हैं—अवदान में उसे कितना सजग रूप से वह अपने जीवन का अंग, चिंतन का अंग बनाने में समर्थ होता है। दया जी ने एक और बात सुंदर कही कि हर विधा का अपना पुरुषार्थ होता है। मैंने कभी इस बारे में ऐसा नहीं सोचा था। इतनी विधाएँ हैं, हर विधा एक खास दृष्टि हमें दिखाती है—जीवन और जगत के प्रति। लेकिन वही काफी नहीं है, वह हमें एक खास तरह के आदर्श को भी हमारे भीतर से उद्वेलित करती है। हम किस तरह से एक विद्या के साथ अपने संबंध बिठा पाते हैं कि एक पैसिव या तटस्थ संबंध नहीं होता, यह बहुत सक्रिय और सजग संबंध होता है जिसमें हमारे समूचे आदर्श भी काम करते हैं, खेल में आते हैं। यह बात मेरे ख्याल में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह पुरुषार्थ क्या है, साहित्य पुरुषार्थ क्या है, दर्शन का पुरुषार्थ क्या है, विज्ञान। उन्होंने कहा कि कोई भी विद्या मूल्य निरपेक्ष नहीं होती या अर्थ निरपेक्ष नहीं होती। आज के वैज्ञानिक युग में यह बहुत ही आवश्यक चीज है जानने की। इसकी व्याख्या करने की। अंत में उन्होंने शायद शुरू में भी कहा कि उसका अंत भी यह है कि हम हमेशा अपने को एक अनंत के बीच में पाते हैं। यह एक अजीब बात है। जब हम आरंभ या अंत के बारे में सोचते हैं तो हमारी परंपरा में, कम-से-कम भारतीय परंपरा में कोई एक बिंदु आरंभ का नहीं है और कोई एक बिंदु अंत का नहीं है। कोई ऐसा गार्डन ऑफ ईडन नहीं है, आदम और इद का, जहाँ से दुनिया और जीवन शुरू हुआ हो और कोई ऐसा डे ऑफ जजमेंट नहीं है जहाँ उसका अंत होनेवाला है। यह अनूठी चीज है भारतीय परंपरा में कि उसका आदि अनंतकाल तक चला जाता है। हम जान ही नहीं पाते कि हमारी परंपरा की जड़ें कहाँ हैं और हमारा भविष्य अब भी किसी काल के बिंदु पर रुकता नहीं है और जिस परंपरा में आदि और अंत किसी खास काल बिंदुओं से शुरू नहीं होता तो जाहिर है वहाँ मनुष्य की छवि, उसकी आकांक्षाएँ, जगत और प्रकृति के साथ उसका संबंध और काल की अवधारणा जिसमें वह जीता है वह उन सब परंपराओं

से अलग होगी जहाँ पर वह आरंभ और अंत के बिंदु के साथ जुड़ी होती है। यह एक और प्रश्न है जिसे संकेत रूप में दया जी ने उठाया है लेकिन हम आशा करते हैं जिन संकेत के बिंदु उन्होंने दिए हैं, कल के भाषण में, वह अधिक विशुद्ध रूप से उनकी व्याख्या कर पाएँगे। मैं डॉ. दयाकृष्ण जी को आप सबकी ओर से धन्यवाद देता हूँ। अगर कुछ प्रश्न है तो पूछ सकते हैं।

प्रश्न : मैं समझना चाहूँगा, जब आप परंपराओं की बात कर रहे हैं तो परंपरा में परंपराओं का होना भी तो एक परंपरा है, कुछ ऐसी परंपरा भी हो सकती है जिसमें अन्य परंपराओं का समावेश न हो तो क्या इस अर्थ में हम इसे एक परंपरा के रूप में कह सकते हैं? एक ऐसी परंपरा जिसके अंदर कई सारी परंपराएँ हैं? एक मैं यह समझना चाहूँगा और दूसरा एक छोटा सा प्रश्न—अर्थ और शब्द या भाषा के संदर्भ में जो आप कह रहे हैं, आपके विचार को थोड़ा सा आगे मैं ले जाऊँ तो क्या मैं यह समझूँ कि अर्थ की अभिव्यक्ति कभी भी संभव नहीं है क्योंकि अनेक और एक का जो संबंध है अगर अनेक से अनेक और उससे एक और फिर उसको भी अनेक में मिलाकर एक की ओर तो क्या ऐसा समझा जाना चाहिए कि अर्थ की अभिव्यक्ति कभी समाप्त ही नहीं होती?

डॉ. दयाकृष्ण : पहले प्रश्न का उत्तर तो सीधा है। आप मान सकते हैं कि एक परंपरा में, अनेक परंपराएँ हैं। लेकिन इससे फायदा क्या होगा। मैं तो आपको एक निमंत्रण देता हूँ कि आप जिस क्षेत्र में भी हैं उस क्षेत्र की जो परंपरा आपके यहाँ है उसका थोड़ा ज्ञान प्राप्त किया जाए और उसको अपनी शक्ति और समझ के अनुसार, क्षमता के अनुसार आगे बढ़ाइए जैसा कि आपको ठीक लगे, घबराइए नहीं, हमारे यहाँ दो चीजें रोकती हैं। एक तो यह जब भी आप कोई बात कहते हैं तो कोई पंडित उठता है, वह कहता है आपको ठीक पता नहीं है। वास्तव में जो आप समझ रहे हैं वह ठीक नहीं है। अरे भाई, न ठीक हो, आप बताइए क्या है? अगर आप, एक बात मैं आपको कहना चाहूँगा, जो लोग आपसे ऐसा कहते हैं वही अपने इतिहास से अन्याय करते हैं। वह आपकी नासमझी का फायदा उठाते हैं। क्योंकि जैसे ही आप स्वयं ग्रंथों को देखना प्रारंभ करेंगे तो आपके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा

कि उसमें किसी भी बात को, कोई बात ऐसी है ही नहीं जिस पर प्रश्न न उठाया गया। मैंने कहा—एको न ऋषि यश वचः प्रमाणम्। दूसरा उसमें जो आदमी कहता है कि इसका अर्थ यह नहीं है परंपरा में, वह केवल यह कह रहा है किसी विशिष्ट ग्रंथ में इसका यह अर्थ नहीं है या किसी विशिष्ट संप्रदाय में यह अर्थ नहीं है। पर अगर वह यह कहता है कि सब संप्रदायों को मान्य है, सब ग्रंथों को मान्य है तो वह गलत कहता है। मैंने स्वयं यह देखा है कि ऐसा नहीं है तो आप कहीं जुड़िए, आगे बढ़ाइए और जो आप कहेंगे वह भी परंपरा का भाग बन जाएगा। दूसरा जो प्रश्न है वह ठीक है। एक हमारे यहाँ भेद है, दृष्ट और अदृष्ट, व्यक्त-अभिव्यक्त, जो इंद्रिर्या देखती हैं वह व्यक्त है, बुद्धि के द्वारा आप कुछ अव्यक्त और अदृष्ट की आपकी भावना होती है, आप उसको पकड़ने की कोशिश करते हैं। लेकिन जब भी जितना भी पकड़ा जाता है वह तो व्यक्त हो जाता है। क्योंकि वह अव्यक्त अनंत है इसीलिए आपकी जो अनंत साधना है, कालमय यह चल सकती है, पुरुषार्थ साधना समाप्त हो जाएगी उस दिन, जिस दिन पूर्णतः वह अभिव्यक्त हो जाएगी। वही उसकी मृत्यु होगी। मृत्युशील नहीं है। उसी से आपका जीवन अनुप्राणित होता है। आप देखिए कि आपकी कितनी भी उम्र हो जाए आप हमेशा सोचते हैं कुछ और हो सकता है। कुछ नया हो सकता है यह क्या है। मैं उदाहरण देनेवाला था। आप देखिए, नौवीं शताब्दी, आठवीं शताब्दी के करीब जयंत होते हैं, कश्मीर में होते हैं, वह कहते हैं—कुतुब...। अरे, क्या कोई नई चीज हो सकती है? आप सोचिए कि अनंतवर्धन है, वह सवाल उठाते हैं—इज पॉयटरी पोसिबल, प्रश्न पूछा जाता है, अरे इतने बड़े-बड़े कवि हो गए हैं क्या नई कविता हो सकती है, हर नौजवान यह सवाल अपने से पूछता है, वह कुछ नया करना चाहता है और उसके पीछे सब बूढ़े-बुजुर्गों का बोझ पड़ा होता है और वह कहता है कालजयी की तरह—परानित्य न साधु सर्वम्। अरे, सबको हटाओ, अपनी बात कहने दो। आपमें यह वास्तव में नई बात कहने की क्षमता आती कहाँ है। यह खाली विन्यास वैचित्र्य नहीं है, इस पर बहुत डिसकशन हुआ है। जयंत कहते हैं कुछ नहीं है। विन्यास वैचित्र्य है। उन्हीं के सौ साल